59/3-4

अनेकान्त

पं. पद्म चन्द शास्त्री

जन्म : बिलसी (बदायूं) उत्तर प्रदेश
कार्तिक शुक्ल अष्टमी वि.सं. 1972
स्वर्गारोहण : दिल्ली, 2 जनवरी 2007
पौष शु. चतुर्दशी वि.सं. 2063

वीर सेवा मंदिर का त्रैमासिक

अनेकान्त

प्रवर्त्तक : आ. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

इस अंक में

कहाँ क्या ?			पृ.
1	अध्यात्म पद	कविवर दौलतराम	1
2	एक श्रुताराधक का वियोग	डॉ. जय कुमार जैन	2
3	पण्डित परम्परा की अन्तिम कड़ी का अवसान	सुभाष जैन, महासचिव	5
4	अनुपम श्रुत आराधक पं. पद्म चन्द्र शास्त्री	डॉ. प्रेमचन्द जैन	7
5	कालूराम किसका ?	डॉ. सुरेश चन्द्र जैन	13
6	जैन दर्शन में प्रमाण की ऐतिहासिकता	डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन	18
7	राजस्थान के कलात्मक जैन मन्दिर	डॉ. कमला गर्ग	32
8	भगवान महावीर और परिग्रह परिमाणव्रत	डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन	45
9	समाधिमरण में शुद्धि व विवेक विवेचन	प्राचार्य निहालचन्द जैन	58
10	मध्य लोक में भोग भूमियाँ एक अनुचिन्तन	डॉ. जय कुमार जैन	71
11	कर्मक्षय में ध्यानतप का महत्त्व और स्वरूप	डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	81
12	जैन साहित्य और पुरातत्त्व के परिप्रेक्ष्य में सप्तम तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का जीवन चरित्र एवं पंच कल्याणक भूमियाँ	डॉ. कमलेश कुमार जैन	93
13	ब्रह्मचर्य दर्शन और उसकी सामाजिक उपयोगिता	डॉ. अशोक कुमार जैन	106
14	आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में अकालमरण	डॉ. श्याम कुमार जैन	121

वर्ष 59, किरण-3-4

जुलाई दिसम्बर 2006

सम्पादक :

डॉ. जयकुमार जैन

429, पटेल नगर

मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

फोन. (0131) 2603730

सह सम्पादक

संजीव जैन

परामर्शदाता

पं. पद्मचन्द्र शास्त्री

संस्था की आजीवन सदस्यता 1100

अनेकान्त वार्षिक शुल्क 30/-

इस अंक का मूल्य 10

सदस्यों व मंदिरों के लिए निःशुल्क

प्रकाशक

भारतभूषण जैन, एडवोकेट

मुद्रक

मास्टर प्रिन्टर्स दिल्ली 32

विशेष सूचना : विद्वान् लेखक अपने विचारों के लिए स्वतन्त्र हैं। यह आवश्यक नहीं कि सम्पादक उनके विचारों से सहमत हों।

वीर सेवा मंदिर

(जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, दूरभाष : 23250522

संस्था को दी गई सहायता राशि पर धारा 80 जी के अंतर्गत आयकर में छूट

(रजि. आर. 10591/62)

मानत क्यों नहिं रे हे

मानत क्यों नहिं रे हे नर, सीख सयानी।
भयो अचेत मोह मद पी के, अपनी सुधि विसरानी॥
दुखी अनादि कुबोध अव्रत तें, फिर तिनसों रति ठानी।
ज्ञान सुधा निजभाव न चाख्यो, पर परनति मति सानी॥
मानत क्यों नहिं .... ॥१॥

भव असारता लखे न क्यों जहँ, नृप है कृमि विटथानी।
सधन निधन नृप दास स्वजन रिपु, दुखिया हरि-से प्रानी॥
देह एक गदगेह नेह इस, है बहु विपति निसानी।
जड़ मलीन छिनछीन करमकृत, बंधन शिवसुख हानी॥
मानत क्यों नहिं .... ॥२॥

चाह-ज्वलन ईंधन विधि-वन घन, आकुलता-कुल खानी।
ज्ञानसुधा- सर शोषन रवि ये, विषय अमित मृतु दानी॥
यों लखि भव-तन-भोग विरचिकरि, निजहित सुनि जिनवानी।
तज रुष-राग "दौल" अब अवसर, यह जिनचन्द्र बखानी॥
मानत क्यों नहिं .... ॥३॥

– कविवर दौलतराम

एक श्रुताराधक का वियोग : अनभ्र वज्रपात

– डॉ. जय कुमार जैन

वीर सेवा मन्दिर (जैन दर्शन शोध संस्थान) द्वारा प्रकाशित शोध त्रैमासिकी "अनेकान्त" पत्रिका के परामर्शदाता एवं पूर्व सम्पादक श्री प. पद्मचन्द्र शास्त्री का 1 जनवरी 2007 को अचानक स्वर्गवास का समाचार सुनकर मैं हतप्रभ हो गया और विचलित भी। अभी 24 दिसम्बर को एक सप्ताह पूर्व ही उनसे मुलाकात हुई थी। वे कुछ अस्वस्थता तो महसूस कर रहे थे, पर ऐसा बिल्कुल भी नहीं लगता था कि हम उनकी छत्रछाया से वंचित होने वाले हैं। वैसे तो पण्डित जी से मेरा परिचय 1979 ई. से है, परन्तु उनके आदेश से 7 वर्ष से "अनेकान्त" के सम्पादन से जुडने पर मुझे पण्डित जी को करीब से सुनने-समझने का सुयोग मिला। इसे मै अपना अहोभाग्य मानता हूँ कि पं. पद्मचन्द्र शास्त्री सदृश दीपशिखा से मुझे भी किञ्चित् आलोक मिला। कदाचित् 24 दिसम्बर की बातचीत को अब स्मरण करने से मुझे ऐसा लगता है कि पं. जी सा को यह आभास हो गया था कि वे अब जैनागम की सेवा नहीं कर पायेंगे। पर अस्वस्थ होने पर भी उनके चेहरे पर गजब का सन्तोष था तथा वे बार-बार वीर सेवा मन्दिर के पदाधिकारियों की प्रशसा करते हुए कह रहे थे कि चलो जैन समाज में एकाध सस्था ऐसी भी है, जो सेवानिवृत्ति के पश्चात् भी राजकीय पेंशन की तरह किसी पण्डित को वृत्ति दे रही है। किसी पण्डित के द्वारा परोक्ष में नियोजक संस्था की ऐसी प्रशंसा मैंने प्रथम बार सुनी थी। उन्होंने मुझे आदेश भी दिया था कि अगले अंक के सम्पादकीय में यह अवश्य लिखना कि अन्य जैन संस्थाओं को इस सन्दर्भ में वीर सेवा मन्दिर का अनुकरण करना चाहिए।

अभी एक माह पूर्व ही पण्डित जी के 33 आलेखों का संकलन "निष्कप दीप शिखा" के नाम से वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित हुआ है।

इन आलेखों के पठन-अनुशीलन से लेखक की बहुविज्ञता, श्रुतनिष्ठा एवं सूक्ष्मतत्त्वदृष्टि का सहज ही पता चल जाता है। पं. जी सा. ने जिन परिस्थितिययों में जैनागम के सूक्ष्मतत्त्वों पर निर्भय होकर साधिकार लेखनी चलाई है, उसकी मिशाल वे स्वयं हैं। कोई प्रलोभन, भय, जनमत या चतुर्विध संघ में से किसी का भी दबाव उन्हें विचलित नहीं कर सका। प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं-विशेषतया प्राकृत भाषाओं के वे पारंगत अधीती विद्वान थे। अर्धमागधी में तो उनकी अनुपम पकड़ थी। प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन में उनकी दृष्टि मूल पर रहती थी तथा टीकाकारों के स्खलन को वे क्षयोपशमजन्य मानकर सर्वथा प्रमाण मानने के पक्षधर नहीं थे। किसी गाथा का अर्थ करते समय वे 'नामूलं लिख्यते किञ्चित्' के पक्षधर थे। एक आदर्श पण्डित में जैसी निर्भयता, निर्लोभता एवं त्यागवृत्ति होना चाहिए, वह पं. जी में कूट-कूट कर भरी थी। उनका व्यक्तित्व बड़ा अलौकिक था। वे जहाँ समाज से पैसा ग्रहण करना तो क्या, एक गिलास पानी पीना भी समीचीन नहीं समझते थे, वहॉं समागत विद्वान् या शोधार्थी जिज्ञासु के प्रति उनका वात्सल्य अद्वितीय था। 92 वर्ष की अवस्था हो जाने पर भी, आगम की सेवा करने की उनकी ललक देखते ही बनती थी। दृष्टि कमजोर हो जाने की उन्हें बस यही चिन्ता सताती थी कि अब पढ़ना-लिखना कम हो गया है। अन्त तक यही कहते रहे कि यदि कोई अच्छा लिखने वाला मिल जाये तो मैं कुछ आगम की गुत्थियों पर आगमानुसार चर्चा करना चाहता हूँ। मुझे कष्ट है कि अपनी अल्पज्ञता, दूरवास एवं प्रमादवश मैं इस कार्य में सहयोगी न बन सका। हो सकता है कुछ गुत्थियॉं अब अनसुलझीं ही रह जायें।

सादगी की प्रतिमूर्ति, निर्भीक वक्ता, निष्कंप लेखनी के धनी सुलेखक तथा सतत सत्यान्वेषी पं. जी सा. में हिमगिरि सी गुरुता, सागर सी गंभीरता एवं लौहार्गला सी दृढ़ता थी। आपकी विद्वज्जगत् में एक अलग पहिचान थी। लाग-लपेट एवं तिगड़मबाजी से दूर तथा

आगम की मौलिकता के साथ किसी भी प्रकार का समझौता न करने वाले आप में जहाँ एक ओर वज्र सी कठोरता थी, वहाँ हृदय में विरोधी विचारक के प्रति भी नवनीत सी कोमलता थी। किसी प्रकार का प्रलोभन आपको अपने मार्ग से नहीं डिगा सका। विद्या एवं विद्वत्ता के क्षेत्र में आपके द्वारा स्थापित आदर्श पूर्णतः अनुकरणीय हैं। स्वाभिमानी एवं दबंग व्यक्तित्व के धारक पण्डित जी के ज्ञानालोक से जैन विद्वज्जगत् सदैव आलोकित रहेगा।

आदरणीय पण्डित जी के निधन से जैन समाज की अपूर्णीय क्षति हुई है। वीर सेवा मन्दिर के तो वे पर्याय ही थे। "अनेकान्त" के पाठकों को उनके आलेखों जैसे समर्थ दस्तावेजों का अभाव अवश्य खलेगा। मैं 'अनेकान्त' के सुधी पाठकों के साथ समवेत रूप से आदरणीय पण्डित जी के प्रति हार्दिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हुआ भावना भाता हूँ कि उनके परिवार एवं जैन जगत् को इस अपार दुःख को सहन करने की शक्ति प्राप्त हो तथा उनके द्वारा दर्शाये मार्ग पर हम चलने में समर्थ हों। सत्कर्मो के प्रतिफलस्वरूप उन्हें सद्गति की प्राप्ति तो असंदिग्ध है ही। अन्त में, मैं वीर सेवा मन्दिर के पदाधिकारियों से आशा करता हूँ कि वे उन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए प्रयासशील रहेंगे, जिनके संरक्षण में पं. पद्मचन्द्र शास्त्री आमरण समर्पित रहे।

– सम्पादक

पण्डित परम्परा की अन्तिम कड़ी का अवसान

वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित अनेकान्त और उसके पर्याय के रूप में प्रतिष्ठित ज्ञानवृद्ध पं. पद्म चन्द्र शास्त्री का देहावसान 1 जनवरी 2007 की मध्यरात्री में हो गया। पण्डित जी के अवसान के साथ ही 20वीं शताब्दी के जैन पण्डित परम्परा की अन्तिम कड़ी भी समाप्त हो गई। व्यावहारिक धरातल पर कठोर छवि धारण करने वाले पण्डित जी स्वभाव से अत्यन्त मृदु, सहृदयी और जैन आगम के आड़ोलन-विलोड़न कर जिनधर्म के सूक्ष्म तत्वों को उद्घाटित करने में सिद्ध हस्त थे। अपनी अवधारणाओं के साथ किसी भी स्थिति में समझौता न करना उनकी अनुपम विशेषता थी। आजीविका की जद्दोजहद में भी उन्होनें कभी समझौता नहीं किया। समाजिक विरोधाभासों को वे अपनी सशक्त लेखनी से उजागर कर समाज को हमेशा सचेष्ट करते रहे। जिनधर्म के मूल अपरिग्रह सिद्धान्त को न केवल अपने जीवन में चरितार्थ किया, बल्कि प्रत्येक प्रसंग पर उनकी स्पष्टोक्ति थी कि वस्तुतः जैन धर्म का प्रचार-प्रसार आचरण के माध्यम से ही हो सकता है और आचरण अपरिग्रह व्रत को जीवन में अपनाने से सम्भव है, जिस पर आजकल लोग ध्यान ही नहीं देते। अहिंसक आचरण की भित्ति अपरिग्रह के नींव पर ही खड़ी हो सकती है।

अहिंसा का राग अलापने से आत्ममुग्ध तो हुआ जा सकता है उससे जीवन अहिंसा की सुगन्ध से सुरभित नहीं हो सकता। परिग्रह के दलदल में फंसा हुआ समाज जब तक अपरिग्रही वृत्ति को जीवन में नहीं उतारता तब तक न तो जैन धर्म के मर्म को समझा जा सकता है और न ही जैन धर्म का प्रचार-प्रसार ही हो सकता है।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश साहित्य के विलक्षण-अनुसन्धाता पं. पद्‌म चन्द्र शास्त्री ने आजीवन अघोषित रूप में परिग्रह परिमाण व्रत का पालन किया और अनेकान्त में समय-समय पर आगमिक, साहित्यिक, सामाजिक विसंगतियों पर करारी चोट की परन्तु उनकी बुलन्द आवाज नक्कारखाने में तूती ही सिद्ध हुई। इसे आगम, साहित्य और समाज की दृष्टि से शुभ चिन्ह नहीं कहा जा सकता। आज पण्डित जी हमारे बीच नहीं हैं लेकिन उनकी सशक्त लेखनी ज्वलन्त सन्दर्भो में आज भी जीवन्त और कार्यकारी है।

अस्तु, यदि हम अब भी सचेत न हुए तो पण्डित जी के अवदानों के प्रति हमारी कृतघ्नता ही कहलायगी। पण्डित जी के प्रति सच्ची श्रद्धांजलि तभी सार्थक होगी जब हम उनके द्वारा स्थापित प्रतिमानो के प्रति न्यायिक दृष्टिकोण से उन्हें मूर्त रूप देने में प्रयत्नशील हों।

प्रस्तुत है निष्कम्प दीपशिखा में डॉ. प्रेम चन्द द्वारा प्रसूत पण्डित जी की जीवनी जो उन्होंने बड़ी कठिनता से प्राप्त की थी।

– सुभाष जैन (महासचिव)

अनुपम श्रुत आराधक
पंडित पद्मचन्द्र शास्त्री

जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान।। कबीर।।

प्रस्तुत दोहे के निहितार्थ तथा सैद्धान्तिक पक्ष से मैं सर्वथा सहमत हूँ। परन्तु व्यावहारिक पक्ष से असहमति है। चूँकि आज जब हमें प्राचीन विद्वानों के ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ देखने को मिलती हैं, तो स्वभावतः रचनाकार, रचनाकाल, एवं स्थान आदि के विषय में जिज्ञासा होती है। यदि उनमें ये सब नहीं दिया गया है तो पाण्डुलिपि के संदिग्ध हो जाने का ख तरा पैदा होने के अलावा अन्य समस्यायें भी सामने आते देखी जाती हैं और फिर मेरा मानना है कि लेखक हो या कोई व्यक्ति, अपने जीवन के विषय में वह स्वयं जो जान सकता है, वह दूसरा नहीं जान सकता। अपने इसी सोच को दृष्टि में रखते हुए मैंने पंडित पद्मचन्द शास्त्री के समक्ष उनके जीवन-परिचय के सन्दर्भ में जब-जब कोई प्रश्न उठाया होगा, तब-तब उन्होंने मुझे जैनागमों से सम्बन्धित चर्चा में उलझाकार मेरे प्रश्न को आकाश के हवाले करते हुए अनुत्तरित ही रहने दिया होगा। ऊपर से एक मीठी झिड़की खिलाकर कहेंगे, 'आराम कर ले थक गया होगा।' अरे ऽ प्रेम तुम लोग समझते नहीं हो; इस परिचय-वरिचय में क्या रखा है? सुनो ऽ, 'परमार्थ शतक में' पंडित रूपचन्द ने लिखा हैः–

चेतन चित्परिचय बिना, जप तप सबै निरत्थ।
कन बिन तुस जिमि फटकतैं, आवै कछू न हत्थ।।
चेतन सौं परिचय नहीं, कहा भये व्रत धारि।
सालि बिहूनैं खेत की, वृथा बनाबत बारि।।

जैनागम शास्त्रों के मर्मज्ञ, प्राकृत-संस्कृत, अपभ्रंश जैसी प्राच्य भाषाओं के ज्ञाता प्रकाण्ड पंडित तथा कुन्द-कुन्दाचार्य भगवान के ग्रन्थों पर साधिकार व्याख्यान देने में समर्थ पंडित पद्मचन्द शास्त्री को, भला हम कैसे समझाएँ कि आप जिज्ञासुओं के लिए 'कन बिन तुस' अथवा 'सालि बिहूने खेत' के समान नहीं हैं। आपने प्राच्य भाषा प्राकृत के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों के चिन्तन-मनन में अपना समग्र

जीवन होम कर डाला है। उस चिन्तन-मनन और मन्थन से जो नवनीत प्राप्त किया है, उसे अपने निबन्धों, व्याख्यानों और चर्चाओं के माध्यम से समाज को ही निःस्वार्थ-निर्लोभ भाव से भेंट कर दिया है। कुन्द-कुन्दाचार्य के ग्रन्थों में प्रतिपादित जैन-सिद्धान्त, दर्शन और धर्म के प्रति आपकी श्रद्धा, आस्था और विश्वास ही नहीं, आचरण में भी उसे व्यवहृत करके दिखाया है।

'मूल जैन-संस्कृति : अपरिग्रह' शीर्षक आपकी लघुकाय रचना को विद्वत्समाज ने बहुमान दिया है। कुछ ही समय में हिन्दी भाषा में न केवल तीसरा संस्करण छापना पड़ा है, अपितु उसका अंग्रेजी भाषा में अनुवाद होकर पुस्तक विदेशों में भी अपनी छाप छोड़ रही है। आपने 'अपरिग्रह' जैसे विषय पर लिखा ही नहीं है, बल्कि अपने वास्तविक जीवन में जिया भी है। 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणं' हमने देखा है, एक ओर जहाँ ज्यादातर विद्वान् पुरस्कारों की जुगत भिड़ाते देखे जा सकते हैं; वहीं आप पुरस्कार में प्राप्त धनराशि संस्था के सदुपयोग के लिए भेंट करते हैं। आज इस प्रकार की निर्लोभ एवं त्यागवृत्ति विरल हो गई है।

मैं ऐसा मानकर चल रहा हूँ कि पंडित पद्मचन्द्र शास्त्री का आत्मकथ्यात्मक कोई कृति या आलेख नहीं है, तो एक संक्षिप्त परिचय ही उनकी नवीन पुस्तक में दे देना अनुपयुक्त नहीं होगा। किन्हीं कारणोंवश मेरे लिए इनका परिचय लिखना दुरूह है, तथपि प्रयत्न करता हूँ। इसमे समस्या एक तो यही है, 'हल्का कहूँ तो बहु डरूँ, भारी कहूँ तो झूठ'...। इसीलिए कबीर ने आगे 'मैं का जानूँ....' लिखकर स्वयं को सुरक्षित कर लिया था। मैंने तो जब 'ओखली में सिर रख लिया है तो चोटों से क्या डरना'? ज़ो भी सही-सही जानकारी कर सका हूँ उसी आधार पर लिखता हूँ।

पंडित जी का जन्म कार्तिक शुक्ला अष्टमी विक्रम सं० 1972 को जिला बदायूँ, उ०प्र० के कस्बा बिलसी में स्वनामधन्य पिता श्री चिरंजीलाल जैन बाकलीवाल के यहाँ हुआ था। माता श्रीमती कटोरी-बाई सरल एवं शान्त स्वभाव की धार्मिक गृहणी थी। अच्छे जैन परिवार में पुत्र का जैसा लालन-पालन होता है, आपका भी उत्तम रीति से हुआ था। उचित समय पर प्रारम्भिक कक्षा 5 तक की शिक्षा बिल्सी में ही पूरी की थी। आगे की शिक्षा के लिए पिता श्री ने 'ऋषभ' ब्रह्मचर्याश्रम चौरासी, मथुरा को चुना और वहीं भेज दिया। सौभाग्य से इसके आगे का विवरण पंडित जी के ही एक लेख में 'जिन खोजां तिन पाइयाँ' की तर्ज पर मेरे हाथ लग गया है। जिसे किसी खास व्यक्ति के संस्मरण के दौरान पंडित जी

को लिखना अपरिहार्य हो गया होगा। प्रसन्नता है, कुछ तो भार हल्का हुआ। आगे उद्धृत है:

"लगभग सन् 1927 के चैत्र मास की बात है, जब श्री कुँवर दिग्विजयसिंह जी अहिक्षेत्र के मेले के बाद बिलसी पहुंचे। उनके साथ मथुरा ब्रह्मचर्याश्रम के प्रचारक पं० सिद्धसेन गोयलीय और एक पगड़ी धारी पंडित जी श्री देवीसहाय जैन-- (सम्भवतः सलावा वाले थे) भी थे। उन दिनों आर्य समाज के प्रचार का युग था। आये दिन आर्य समाजियों से जैनियों के विवाद चलते रहते थे। मेरे पिता जी की ऐसे विवादों में रूचि थी--उन्हें ज्यादा रस आता था-जैन की बात पोषण में। कुँवर साहब के आने से शास्त्रार्थ का वातावरण बन गया। नियम-समय आदि निर्धारित हो गए। आर्य समाज ने अपनी ओर से बरेली के पं० बंशीधर शास्त्री को नियुक्त किया और जैन की ओर से कुँवर साहब बोले। कुँवर साहब को वहाँ कई दिन ठहरना पड़ा।

मुझे याद है कटरा बाजार में मेरे ताऊ श्री दुर्गा प्रसाद जी की दुकान के सामने काफी भीड़ थी। दोनों ओर मेजें लगी थी। दोनों विद्वान् बारी-बारी बोलते थे। सभापति का आसन विलसी के प्रमुख रईस श्री गेंदनलाल ने (जो अजैन थे) ग्रहण किया था। नतीजा क्या रहा मुझे नहीं मालूम? हाँ, दोनों ओर की तालियों की गड़गड़ाहट और जयकारों का मुझे ध्यान है। अगले दिन कुवँर साहब के सुझाव पर, वातावरण से प्रभावित मेरे पिता ने मुझे विद्वान् बनाने का संकल्प ले लिया और मथुरा ब्रह्मचर्याश्रम में भेजने का निश्चय प्रकट किया। कुँवर साहब ने मेरे सिर हाथ रखकर मुझे विद्वान् पंडित बनने का आशीर्वाद दिया और गोयलीय जी से कहा-इस बालक की अच्छी व्यवस्था करना। मुझे भली-भांति याद है उस समय कुँवर साहब सफेद चादर ओढ़े, सफेद चाँदी फ्रेम वाला चश्मा लगाए थे और उनकी दाढ़ी मन मोह रही थी। कुछ महीनों में मैं आश्रम में पहुंच गया। मेरे पिता नहीं चाहते थे कि वे मेरा बोझ समाज पर डालें, फलतः- उन्होंने खुशी से आश्रम को पांच रुपए मासिक देना स्वीकार किया और राशि बराबर पहुंचती रही। उन दिनों पांच रुपयों की बड़ी कीमत थी।" उन दिनों माणिकचन्द दिगम्बर जैन परीक्षालय शोलापुर की बड़ी मान्यता थी। मथुरा में पढ़ाई करते हुए ही आपने जैन धर्म, न्याय, शास्त्री आदि की परीक्षाएँ पास की थीं। कलकत्ता से होने वाली 'व्याकरणतीर्थ' की कठिन परीक्षा भी उत्तम श्रेणी में पास की। इस प्रकार पढ़ाई करते हुए पंडित जी मथुरा ही रहे। आगे उन्होंने लिखा है--

"पढ़ाई के बाद सन् 36 में जब अम्बाला शास्त्रार्थ सघ में उपदेशक विद्यालय खुलने की बात मेरे पिता के ध्यान में आई तब उन्होंने पुराने शास्त्रार्थ की बात याद कर मुझे आदेश दिया कि शास्त्रार्थ संघ में चले जाओ। बस, स्वीकृति आने पर मैं पहुंच गया। 15-5-36 के उद्घाटन पर उपदेशक विद्यालय का मैं तत्त्वोपदेशक विभाग का सबसे छोटी उम्र का और प्रथम छात्र था। उन दिनों पं० बलभद्र जी संघ के मैनेजर थे-हमारे आफीसर। फिर भी सादा, सरल। उन्होंने मुझे भाई सरीखा स्नेह दिया। आश्रम का छात्र होने के कारण संघ में मुझे ब्रह्मचारी का संबोधन मिला।"

शास्त्रार्थ संघ अम्बाला में पहुँचकर उपदेशक के रूप में कार्य करते हुए व्यख्यान शास्त्रार्थ की शिक्षा पाई। इस संघ ने अपने व्यय से ही आपको वाराणसी भेज दिया था। यहाँ किराए का मकान लेकर रहे और ब्राह्मण विद्वानों से वेदों का अध्ययन किया और कलकत्ते से होने वाली 'वेदतीर्थ' परीक्षा उत्तीर्ण की। ये पूरा का पूरा अध्ययन शास्त्रार्थ में काम आता था। वहाँ की पढ़ाई पूरी करने के बाद पुनः संघ में आ गए। अम्बाला शास्त्रार्थ संघ की शाखा मथुरा से फिरोजपुर छावनी चले गए। यहाँ पर जैन हाई स्कूल में अध्यापक रहे और जैन जिज्ञासुओं को स्वाध्याय कराया; यहाँ 6-7 वर्ष रहे पुनः 1 वर्ष मथुरा रहकर जैन समाज में पढ़ाया। इसके बाद मुल्तान (पंजाब) में एक वर्ष ही रह पाये थे। दंगे शुरू हो जाने के कारण सँपरिवार घर बिल्सी आ गए। कुछ दिनों घर रहने के बाद दिगम्बर जैन स्याद्वाद महाविद्यालय, भदैनी घाट, वाराणसी में 12-13 वर्ष व्यवस्थापक रहते हुए अध्यापन भी करते रहे।

डॉ० नेमीचन्द्रशास्त्री, ज्योतिषाचार्य उन दिनों वाराणसी आते-जाते रहते थे। उनके सद्परामर्श से पंडित जी ने यू० पी० बोर्ड का हाई स्कूल; वा० सं० वि० वि० से जैनदर्शन शास्त्री और प्राकृत से एम० ए० की परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की थीं। इनका इस प्रकार का शैक्षिक विकास के साथ जब उनके स्वाभिमान को ठेस लगने के कारण उपस्थित हुए तो विद्यालय की सेवायें छोड़ दी। परिणामतः आर्थिक कठिनाइयों से भी उन्हें दो-चार होना पड़ा। परन्तु सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति, मितव्ययी कुशल गृहणी और आपकी पत्नी श्रीमती कमलेश जैन का साहस और हौंसला देखते ही बनता था। वे अपने परिवार के अलावा विद्यार्थियों के लिए भी अन्नपूर्णा माँ की भूमिका बराबर निभाती रही। ऐसे अवसरों पर पंडित फूलचन्द सिद्धांत शास्त्री विद्वान् हों अथवा जैन विद्यार्थी सभी की सहायता करने के लिए तत्पर रहते थे। उनके आशीर्वाद सदैव साथ रहे। बच्चों की शिक्षा बराबर

जारी रही। मैं बच्चों में शरीक था। साथ ही रहता था। अतः कथन में मिलावट जैसी कोई बात नहीं है। सच्चाई, ईमानदारी, स्वाभिमान एवं सिद्धांत की रक्षा के लिए ऐसे कष्ट झेलने में मेरे मामा-मामी को अपूर्व आनन्द मिलता रहा है। इस प्रकार ये दोनों ही धन्य हैं।

सन् 1962 ई० में देश की राजधानी दिल्ली आ गए। कुछ समय बाद मुनि विद्यानन्द जी के साथ रहे। उन्हीं के साथ-साथ पदयात्राएँ करते रहे। हिमालय भी साथ गए। 'हिमालय के दिगम्बर मुनि' शीर्षक पुस्तक लिखी। इस पुस्तक की अन्त तक माँग बनी रही। आपके पाण्डित्य की छाप इस पुस्तक में उजागर हुई है। तदुपरान्त वे 'वीर सेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली' अनेकान्त के सम्पादक के रूप में आ गए। वीर सेवा मन्दिर एवं अनेकान्त के संस्थापक पंडित जुगलकिशोर जी मुख्तार और कमेटी ने संस्था के जो उद्देश्य निर्धारित किये थे, उन्हें पूरा करने में पंडित जी प्राणपण से जुट गए। बड़े पुत्र राजीव, छोटे प्रदीप कुमार, सबसे बड़ी पुत्री सुधा और मधु सबकी शिक्षा-दीक्षा विवाह सभी कार्य संपन्न हो गए। ये सभी सरकारी उपक्रमों में अच्छे पदों पर कार्यरत हो गए। सभी स्वावलम्बी पूर्णतः समर्थ हैं। सबकी सन्तानें हैं। सब अपने-अपने घर से जाकर माता-पिता की सेवा करना चाहते हैं। परन्तु वीर सेवा मन्दिर में रहते हुए पंडित. जी संस्थान तथा जिनागम की सेवा में मनसा-वाचा कर्मणा सजग भाव से समर्पित हैं। उनकी त्याग एवं निर्लोभ वृत्ति अनुगमनीय है। संस्थान के सदस्यों, पदाधिकारियों तथा समाज को इसका भरपूर लाभ मिल रहा है। सभी पंडित जी की भावनाओं का आदर करते हैं। वे अब 92 वर्ष की अवस्था पूरी करते हुए भी कुन्द-कुन्दाचार्य के शास्त्रों को वाणी देते नज र आते हैं।

पं० पद्मचन्द्र शास्त्री की इतनी लम्बी जीवन-यात्रा का विवरण भी एक पूरी पुस्तक चाहता है। यहाँ विस्तारभय से मैंने पूरे तथ्य देने में भी लेखनी को नियन्त्रण में रखने का प्रयत्न किया है। लेकिन अनेकान्त के संदर्भ के साथ-साथ, वीर सेवा-मन्दिर से पंडित जी के जुड़ाव पर डॉ० सुरेशचन्द्र जैन द्वारा प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण स्पष्टोक्ति को उद्धृत किये बिना 'जीवन-परिचय' की बात में अधूरापन रहना अवश्यम्भावी है। अन्ततः क्षमायाचनापूर्वक उसे जोड़ना मेरे लिए अपरिहार्य है। उन्होंने अनेकान्त के एक लेख में अपने विचार अभिव्यक्त किए हैं; मेरी दृष्टि में वे तथ्यात्मक ही नहीं, यथार्थ भी हैं। देखेः-

"उतार-चढ़ाव और आर्थिक एवं सामाजिक उदासीनता के चक्र में भी गौरव

पूर्ण उद्देश्यों के प्रति समर्पित यह पत्रिका अपने अवदानों के लिए जैन इतिहास, सिद्धांत, साहित्य, समीक्षा, सामयिक कविता एवं मूलभाषा सम्बन्ध आलेखों का एक सशक्त जीवन्त दस्तावेज है, जिसे आ० जुगलकिशोर मुख्तार, पं० परमानन्द शास्त्री, श्री भगवत स्वरूप भगवत् श्री अगरचन्द्र नाहटा, डॉ० दरबारी लाल कोठिया, श्री अयोध्या प्रसाद गोयलीय, डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, पं० हीरालाल सिद्धांत शास्त्री, पं० नाथूराम प्रेमी, पं० आदि मनीषी विद्वानों ने पल्लवित और पुष्पित किया ही है। श्री पद्मचन्द्र शास्त्री ने तो विगत 30 वर्षों में अनेकान्त में प्राकृत विषयक जो सामग्री प्रस्तुत की है वह जैन साहित्येतिहास के लिए भविष्य में मार्गदर्शक सिद्ध होगी।"

तात्पर्य यह है कि अनेकान्त में इतिहास-पुरातत्त्व के आलेखों के साथ ही मूल आगम ग्रन्थ सम्पादन तथा आगम भाषा विषयक सामग्री का भी प्रचुरमात्रा में प्रकाशन हुआ है। वह भी इतिहास की सामग्री से भिन्न नहीं है। 2500वें निर्वाण महोत्सव के प्रसंग में 'अनुत्तर योगी महावीर' कृति की समीक्षा करते हुए 'विष मिश्रित लड्डू' शीर्षक से परम्परागत मूल्यों की रक्षा का ऐतिहासिक दस्तावेज प्रस्तुत किया है। इसी प्रकार मूल आगम एवं भाषा विषयक पं० पद्मचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत आलेख दिगम्बर आगमों के सुस्पष्ट निर्धारण के उन आयामों और मानदण्डों को स्थापित करते हुए मार्गदर्शन करते हैं, जिन पर समस्त दिगम्बर परम्परा और इतिहास की भावी भित्ति खड़ी होगी तथा अध्येता अनुसन्धित्सुओं को एक सुनिश्चित मार्ग निर्धारण करने को मार्ग प्रशस्त करेगा। विडम्बना यह है कि आज कतिपय विद्वत् वर्ग सत्यान्वेषी न होकर अर्थान्वेषी है और अर्थ की लोलुपता सत्य को खोजने में सबसे बड़ी बाधा है यदि ऐसा न होता तो वर्तमान के सभी मनीषी विद्वान् प्राकृत विषयक अवधारणा और मूलआगम संपादन-संशोधन विषयक पं० पद्मचन्द्र शास्त्री की धारणा से सहमत होते हुए भी उदासीन भाव से असहमत न होते। विद्वत्-समुदाय ने अनेकान्त के परम्परा पोषित सन्दर्भों में भी न्याय का आश्रय नहीं लिया यह भी विडम्बना और आश्चर्य का विषय है। परन्तु पण्डित पद्मचन्द्र शास्त्री ने अदम्य साहस के साथ एकला चलो रे की राह नहीं छोड़ी और समाज को ज रा सोचिए तथा परम्परित मूल्यों के प्रति अपने आलेखों के माध्यम से सचेत करते रहे।"

- प्रेमचन्द्र जैन

कोहराम किसका?

– डॉ. सुरेशचंद जैन

एक लम्बे अर्से के बाद लाला मुसद्दी लाल जी मेरे पास आए। प्रारंभिक शिष्टाचार के बाद आदतन उन्होंने कहा– डॉ.सा.! आप अजित टोंग्या जी को जानते है? मैंने कहा - नहीं, परिचय तो नहीं हुआ कभी कहीं मुलाकात हुई हो तो कह नहीं सकता, नाम जरूर सुना है। कहिए क्या बात है? आश्चर्य से वे मुझे देखते हुए बोले– आश्चर्य है आप उन्हें नहीं जानते आजकल उन्होंने कोहराम मचाया हुआ है। चौंकने की बारी मेरी थी 'कोहराम' कैसा कोहराम? बातचीत का सूत्र लेते हुए वे बोले - अभी यात्रा करते हुए कुण्डलपुर गया था। मैनें पूछा– नालन्दा वाला या बड़े बाबा वाला। बोले– बड़े बाबा वाला कुण्डलपुर। मैंने कहा वहाँ तो अब सब कुछ ठीक चल रहा है। 3 - 4 माह पहिले मैं होकर आया हूँ। वे बोले– वहाँ तो सब ठीक है, बड़े बाबा का अतिशय है, अनेक बाधाओं के बाद भी कार्य निर्बाध रूप से चल रहा है, परन्तु उज्जैन के महानुभाव अजित टोंग्या जी ने कुण्डलपुर कोहराम नामक एक पुस्तिका प्रकाशित की है और अनका दावा है कि कुण्डलपुर में जो भी हुआ वह मूल परम्परा का घात किया गया है और प.पू.आ. विद्यासागर जी की प्रेरणा और आशीर्वाद से हुआ है। मैं उन्हें टकटकी लगाकर देख रहा था और वे बोले जा रहे थे। टोंग्या जी का कहना है कि कुण्डलपुर बीसपंथी आम्नाय का मंदिर है यह बात उन्होंने श्रीकान्त चंवरे उल्हासनगर वालों के एक लेख के माध्यम से उजागर की है। श्री चंवरे जी ने कहा है कि कुछ समय पहले वहाँ की पूजा-पद्धति बदली गई है। प्रश्न भी उछाला है कि तेरह पंथ के साधु या कमेटी को यह अधिकार किसने दिया कि वहाँ की पूजन-पद्धति को बदल दिया जाय। नवीन मंदिर निर्माण को भी प्रश्नांकित करते हुए बीस पंथ वालों की चिन्ता उजागर की है कि उनके मन में विद्रोह की ज्वाला धधक रही है उनका दिल दुःख रहा है। रेवासा, सांगानेर, बिजौलिया एवं चांदखेड़ी के विकास को भी आम्नाय के प्रश्नों से देखते हुए उसे परिवर्तन की संज्ञा

प्रदान करके भारी मनभेद और भयावह स्थिति उत्पन्न होने की चिन्ता व्यक्त की है। थोड़ा विराम लेते हुए लाला जी बोले - आप क्या कहते हैं इस विषय पर?

मैंनें गहरी श्वास ली और कहा- लाला जी! लगता है कि हमारा समाज आज जिस दौर से गुजर रहा है वह सुखद भविष्य की संसूचना तो नहीं दे रहा। कारण कई हैं उनमें से सबसे खतरनाक है पंथ व्यामोह। कहने को तो हम 21वीं सदी में जी रहे हैं। लेकिन हमारी मानसिकता 12 व 13वीं सदी की है। दुर्योधन की मनोवृत्ति और हठवादिता, अहंमन्यता हमारे दिलो-दिमाग पर इस कदर हावी है कि हम सूर्य के प्रकाश में भी सत्य को देखने-परखने की शक्ति खो चुके हैं। दम्भ तो वीतरागता का है। यथार्थ में सब अपने स्वार्थ की रोटी सेंकनें की जुगत में ही लगे हैं। जहाँ तक कुण्डलपुर के बाबा के नव मंदिर का प्रश्न है वह सर्वथा उचित है। पहले भी साहू परिवार ने उस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया था। अब यदि जीर्णोद्धार सम्भव नहीं था और आचार्य श्री की प्रेरणा से वहाँ की कमेटी ने नए मंदिर का निर्णय लिया तो कौन सी ऐसी गाज समाज पर गिर पड़ी कि लोगों ने पुरातत्व विभाग और न्यायलय के दरवाजे खटखटाये। संस्कृति संरक्षण में दतचित्त महानुभावों ने सम्भवतः यह विचार करने का कष्ट नहीं उठाया कि स्वयं की जांघ का फोड़ा ठीक कराने के लिए डिंडोरा न पीट कर चुप-चाप उसका आपरेशन करके स्वस्थ होने का उपक्रम किया जाता है। पुरातत्व विभाग ने कुण्डलपुर क्या, कहीं भी जैन मंदिर के जीर्णोद्धार करने में पहल की हो मुझे ज्ञात नहीं। हाँ, सामाजिक वैयवितक एवं संकीर्ण सोच के चलते अवश्य पुरातत्व विभाग ने रोड़ा अटकाये हैं। वैसे उस विभाग को कुछ लेना देना नहीं।

जीर्णोद्धार अथवा विकास के नाम पर भगवान महावीर की जन्मस्थली वैशाली कुण्डग्राम (कुण्डलपुर) को बदलकर नालन्दा जिला स्थित कुण्डलपुर को भगवान महावीर की जन्मस्थली के रूप में स्थापित प्रतिष्ठापित करने में जैसा प्रायोजन किया गया। उस समय न तो टोंग्या जी सामने आए और न ही संस्कृति रक्षा मंच वाले। क्योंकि उस प्रोजेक्ट

का प्रायोजन बीसपंथ की समर्थक साध्वी हैं। एक लब्धप्रतिष्ठ विद्वान से जब मैनें यह पूछा कि आपने इसका समर्थन कैसे कर दिया तो उनका उत्तर था यदि क्षेत्र का विकास इसी ब्याज से हो रहा है तो हम क्यों आपत्ति करें।

अपनी बात को आगे बढ़ाते हुए मैंने कहा - लाला जी! आज सारे भारत में घूम आयें तेरहपंथी हो या बीसपंथी, प्रतिदिन की पूजा में अचित्त सामग्री का ही बहुतायत प्रयोग होता है। भट्टारक परम्परा ने अपने चैत्य - चैत्यालयों की रक्षा के निमित्त ही सम्भवतः हिन्दू परम्परा में प्रचलित सचित्त पूजा पद्धति को आत्मसात् करते हुए उसे प्रचलित कर दिया होगा। पूजन पद्धति में प्रयोजनीय सामग्री आज बीसपंथ परम्परानुसार सबके लिए प्रतिदिन सम्भव नहीं। दक्षिण की बात और है, वहाँ तो आज भी पूजन का मुख्य कार्य पुजारी के माध्यम से होता है, शेष सब मात्र अनुमोदनार्थ उपस्थित रहते हैं। उत्तर भारत में तो पूजनार्थी स्वयं पूजन को उद्यत होता है। दूसरे जरा दक्षिण के गर्भालयों की स्थिति को आपने देखा होगा कि वहाँ कितना गहन अन्धकार और दीपक की लौ की कालिमा व्याप्त रहती है। खैर, हम भी वहाँ जाकर दर्शन पूजन करते हैं। अभी श्रवणबेलगोला में प.पू. भट्टारक स्वामी जी की उपस्थिति में हम सभी विद्वानों ने भण्डार-वसदि के जिन मूर्तियों का पंचामृत अभिषेक देखा था उन्होंनें जलाभिषेक के बाद स्पष्ट घोषणा कर दी कि जो पंचामृत अभिषेक मात्र देखना चाहें नीचे आकर देखें। यह थी भट्टारक जी की समन्वयात्मक दूर-दृष्टि। न दबाव और न परम्परा की दुहाई। परम्परा की रक्षा और उसकी दुहाई देने वालों की बानगी देखिये– लाला जी! अभी कुछ साल पहिले एक प्रतिष्ठित आचार्य जब यौन उत्पीड़न के मामले में फंसे और बहुचर्चित हुए तो महासभा के शीर्षस्थ नेता से संयोग से मेरी भेंट हो गई। उन्होंने अचानिक प्रश्न उछाला अब क्या करें? मामला तो संगीन है। यदि इसे दबाने का प्रयास न किया गया तो साधु - संस्था बदनाम हो जायगी। साधुओं का निर्बाध आवागमन बाधित होगा। हमें तो साधु संस्था की बात सोचनी चाहिए, परम्परा खण्डित न हो। तब मैंनें उन्हें कहा था - कभी न कभी तो सख्त कदम उठाने होगें अन्यथा साधु-संस्था

शिथिलाचार से उत्पन्न बदनामी के भंवर में डूब जायगी। इस सन्दर्भ में जो जांच समिति बनी थी उसके एक सम्मानित सदस्य अभी हैं, जिन्होंने अन्तिम समय तक जाँच को सार्वजनिक करने की बात कही थी लेकिन अन्य सदस्यों के दबाव के चलते वे अन्ततः तटस्थ हो गए थे। इन प्रसंगो को देखकर तो ऐसा लगता है कि तथाकथित कट्टर बीसपंथ के मानने वाले आज दोहरी मानसिकता से दो-चार हैं। एक ओर वे आधुनिक होने का दम्भ पाल बैठे हैं और स्वयं की परम्पराओं को प्रश्रय देने वालों का आंख बन्द कर समर्थन करते हैं तो दूसरी ओर जायज और आवश्यक कार्यो को अंजाम देने वालों के प्रति विष-वमन करते हैं या करवाते हैं। दोनों ही स्थितियाँ परम्परा और समाज के लिए घातक हैं।

तेरह और बीस का झमेला तो बहुत थोड़ा है। तथाकथित समाज के हितैषी अखिल भारतीय स्तर के नेता लोग अपनी-अपनी मर्यादा में रहे तो तेरह-बीस का झगड़ा उत्पन्न ही नहीं होगा। मुझे याद आती है अयोध्या के बावरी मस्जिद-राम जन्मभूमि प्रकरण की। अयोध्या फैजाबाद के स्थानीय लोगों का मन्तव्य था कि यह मामला स्थानीय है, इसे स्थानीय लोगों को ही सुलझाने देना चाहिए। लेकिन राष्ट्रीय स्तर के महामना नेताओं को चैन नहीं पड़ा और जो कुछ भी हुआ वह सबके सामने है। बाद में पुरातत्व वालों ने जब खुदाई की तो जो चिह्न मिले वे न तो बाबरी मस्जिद के थे और न राम मंदिर के, जैन परम्परा के चिह्न मिलते ही खुदाई रुकवा दी गई। क्या बीसपंथियों या संस्कृति रक्षा का दम्भ करने वाले इसे सही अंजाम देने के लिए आगे आए या उन्होंने सरकार को विवश किया कि पूरा मामला साफ होना चाहिए और उस स्थल को जैनों को सौंपा जाना चाहिए।

लाला जी! मेरे जेहन में कई ऐसे संदर्भ हैं जब शीर्ष नेताओं नें मात्र अपनी नेतागिरी चमकाने के लिए तथा स्वार्थ सिद्धि के लिए कभी तथाकथित शुद्धाम्नायी बने तो कभी महासभाई। महासभा की नीतियों के कट्टर समर्थक भी तथाकथित शुद्धाम्नायी की छत्र छाया में उपस्थित होते हुए देखे जाते हैं। आज तो कभी अपने आप को शुद्धाम्नायी

मानने वाले भी उन्हीं साधुओं का आशीर्वाद चाहते हैं, जो कभी उन्हें सुहाते ही नहीं थे। सोनगढ़ मिशन जो आज जयपुर मिशन बन चुका है और जिनकी मान्यता है कि विरोध के बजाय अपनी लाईन बड़ी बनाओ। जनसामान्य को अपनी विचारधारा के अनुकूल ढालो सब ठीक हो जायगा। बात भी सही है। यथार्थ के धरातल पर आज जिस तरह विधिवत् उनका प्रचार प्रसार चल रहा है, उससे उनकी अवधारणा की पुष्टि होती है। आज यत्र-तत्र सर्वत्र उनके अनुयायी एककुट होकर मिशन की कामयाबी में जुटे हैं और तथाकथित परम्परा निष्ठ तेरह-बीस के झमेले में उलझा है या उलझाने की कोशिश की जा रही है। साधुभक्त समाज आज न तो साधुभक्त ही रह गया है और न ही उसकी निष्ठा ही एक निष्ठ रही है। समाज का तथाकथित नेतृत्व पंथ व्यामोह के दलदल में फंसा हुआ है। ऐसा नेतृत्त्व कुछ कर सकेगा इसकी संभावना नहीं के बराबर है। महाभारत में कौरवों की पराजय का कारण बहुनेतावाद था, वही स्थिति आज अपने समाज की है। विरोध दर विरोध की नीति कभी कारगर साबित नहीं हुई। अब जो लोग सोचना ही नहीं चाहें और जानकर भी अनजान बने रहने का ढोंग कर रहे हैं उनकी क्या कहें। समाज का आम व्यक्ति इन सब चीजों से अनजान ठगा जा रहा है और परम्परा तथा समुचित विकास के औचित्य को वाद-विवाद के घेरे में लाकर परम्परा व समाज का कौन सा हित साधन टोंग्या जी व बीसपंथी वाले कर रहे हैं, ये वे ही जानें।

अन्त में, लाला जी। इतना अवश्य कहूंगा कि संकीर्णताओं से ऊपर उठकर तथा व्यक्तिगत मान/अपमान को परे रखकर, सांस्कृतिक धरोहरों के समुचित विकास पर ध्यान केन्द्रित कर ही उनकी रक्षा हो सकेगी।

इस लम्बी बातचीत के बाद लाला जी बोले– ठीक है डा.सा.! हम तो अब यही सोचेंगें 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होसी वीरा रे।'

सम्पादक
जैन प्रचारक
जैन बालाश्रम नई दिल्ली-2

जैन दर्शन में प्रमाण का ऐतिहासिक स्वरूप

– डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन

भारतीय दर्शन में विभिन्न दर्शन पद्धतियों एवं उनकी विभिन्न समस्याओं से सम्बन्धित चिन्तन का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास उपलब्ध नहीं होता। विशेष रूप से जैनदर्शन में प्रमाणमीमांसा का जैसा विशद, प्रौढ़ एवं गम्भीर विवेचन प्रमाण प्रस्थापक आचार्यो ने किया है, वैसा मूल्यांकन भारतीय दर्शन के इतिहास लेखकों ने नहीं किया है। अन्तर्दार्शनिक पद्धतियों के साथ जैनदर्शन के ऐतिहासिक क्रम की तत्त्वाभिनिवेश, तलस्पर्शी, वस्तुपाती दृष्टि जिस रूप में स्थापित होना चाहिए, उस रूप में नहीं हो पायी। यद्यपि जैनविद्या के गवेषक, समीक्षक एवं इतिहास लेखक मनीषियों ने प्रमाणमीमांसा और तत्त्वमीमांसा के अन्तर्गत सम्बधित विषयों पर ऐतिहासिक दृष्टि से प्रकाश डाला है, परन्तु वह भारतीय दर्शनों के ऐतिहासिक सन्दर्भ में मूल्यांकन हेतु अपर्याप्त है। सम्प्रति आवश्यकता इस बात की है कि मूल ग्रन्थों के गम्भीर अध्ययन पूर्वक जैनेतर एवं पाश्चात्य दर्शनों के साथ जैन प्रमाण सिद्धान्तों का तुलनात्मक समीक्षण करते हुए भारतीय दर्शनों के इतिहास में मूल्यांकन हेतु ठोस कार्ययोजना तैयार की जाए। यहां हमारा लक्ष्य 'जैनदर्शन में प्रमाण का ऐतिहासिक स्वरूप' विषय पर संकेत रूप में अपने मन्तव्य प्रकट कर जैनविद्या के अध्येता मनीषियों का ध्यान उस ओर आकर्षित करना है।

दार्शनिक युग की प्रमाण व्यवस्था से पूर्व प्रायः सभी भारतीय दर्शनों की दृष्टि के मूल में जड़ और चेतन की स्वतंत्र वास्तविकता है। इनके स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में दिये गये मन्तव्यों मे जब अन्तर किया गया तब उसके प्रामाणिक स्वरूप को सिद्ध करने के लिए सभी दार्शनिक सम्प्रदायों ने कसौटी के रूप में अपने-अपने मानक निर्धारित किये। उस मानक का प्रारम्भिक रूप विद्या-अविद्या,

ज्ञान-अज्ञान, सम्यक्-मिथ्या, अलौकिक-लौकिक, परा-अपरा विद्या आदि कुछ भी रहा हो, दार्शनिक युग में वह मानक प्रमाण-अप्रमाण के रूप में सभी सम्प्रदायो मे मान्य हुआ, परन्तु उसके अन्तरग स्वरूप में एकरूपता स्थापित नहीं हो सकी। प्रमाण शब्द प्रमितिज्ञान और उसके साधन के लिये प्रयुक्त किया गया। प्रमाण शब्द प्रयोग से पूर्व प्रमाण के द्वारा किया जाने वाला कार्य, किन शब्दों के प्रयोग द्वारा किस रूप में किया जाता रहा, ज्ञान और ज्ञान के साधनों का विकास कब हुआ, इसके आदि प्रवर्तक कौन है, इनका तर्कसंगत उत्तर देना कठिन है। यद्यपि विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं में इनके अलग-अलग साम्प्रदायिक समाधान है, परन्तु प्रतीत होता है कि मानव ने जब स्वयं एवं अन्य बाह्य जगत् के सम्बन्ध में अपने विवेक बुद्धि का प्रयोग किया होगा तभी से ज्ञान और ज्ञान के साधनों का प्रयोग आरम्भ हुआ होगा। ज्ञात दार्शनिक सम्प्रदायों के आधार पर ऐतिहासिक निर्णय पर पहुँचने में सबसे बड़ी बाधा अपने सम्प्रदाय के प्रति अन्धश्रद्धा है। जब वे युक्ति और तर्क के बल पर किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचते, तब वे उसे अपने सम्प्रदाय के प्रवर्तक की वाणी कहकर या आगम, शास्त्र आदि का उल्लेख बताकर उसकी यथार्थता सिद्ध करते हैं। परन्तु भारतीय दर्शनों में जैनदर्शन की यह विशेषता है कि वह अन्धश्रद्धा को स्थान नहीं देता। जैनाचार्यो ने स्पष्ट घोषणा की है कि जिनके वचन युक्ति और शास्त्र आगमों में निबद्ध हों, उनसे से अहेतुगम्य तत्त्वों की प्रमाणिकता सिद्ध होती है तथा हेतुगम्य तत्त्वों की प्रमाणिकता युक्ति और तर्क बल से सिद्ध होती है।[2]

जैनदर्शन में प्रमाण के विकसित स्वरूप के पूर्व समग्र चिन्तन की परम्परा तीर्थकरों की देशना से जुड़ी है, जिसका सर्वप्रथम उपलब्ध रूप द्वादशांग आगमों में देखा जा सकता था, दिगम्बर श्वेताम्बर के रूप में विभाजित परम्पराओं द्वारा क्रमशः ग्यारह अंगों का उच्छेद एवं आविर्भाव मानने के कारण, मूलभूत सिद्धान्तों में प्रायः समानता होने पर भी प्रमाण, प्रमाण भेद, नय आदि दार्शनिक तत्त्वों की ऐतिहासिकता के

सन्दर्भ में मतभेद दृष्टिगोचर होते हैं। श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आगमों में प्रमाण, प्रमाण भेद, नय आदि की विस्तृत चर्चा उपलब्ध होती है, परन्तु दिगम्बर परम्परा में उमास्वामी से पूर्व प्रमाण का वैसा विवेचन नहीं पाया जाता है। प्रमाण, नय आदि के दार्शनिक शैली में विवेचन से पूर्व इनके विकास का प्रमुख आधार ज्ञान का विवेचन आत्मा की क्रमिक विशुद्धता को केन्द्रबिन्दु बनाकर आगमिक शैली में किया जाता रहा है। कर्मबद्ध आत्मा का ज्ञान जितने अंशों में आत्मसापेक्ष एवं जितने अंशों में इन्द्रिय सापेक्ष होकर प्रकट होता है, उसी के आधार पर उतने अंशों में उसकी क्रमिक प्रमाणिकता का निर्णय किया जाता रहा। प्रमाण के भेद निर्धारण करने में भी यही सैद्धान्तिक मान्यता आघार बनी। दार्शनिक युग से पूर्व दिगम्बर आगमिक परम्परा में प्रमाण का कार्य ज्ञान के द्वारा सिद्ध किया जाता था। दोनों में अन्तर इतना था कि आगमिक परम्परा में ज्ञान की मीमांसा मोक्षमार्ग को केन्द्रबिन्दु मानकर होती रही, जबकि प्रमाणमीमांसा का क्षेत्र मोक्षमार्ग के साथ सम्पूर्ण बाह्य जगत् तक विस्तृत हो गया। इस युग में आचार्यों द्वारा अपने ग्रन्थों में हेय-उपादेय और ज्ञेय दृष्टि से विवेचन किया गया। उन्होंने हेय और उपादेय के विवेचन के लिए निश्चय और व्यवहार नयों का आश्रय लिया तथा ज्ञेय दृष्टि से विवेचन के लिए द्रव्यार्थिक एवं पर्यायार्थिक नयों का आश्रय लिया। विक्रम की पांचवी शती में संकलित श्वेताम्बर आगमों में ज्ञान के स्वतंत्र विवेचन के साथ प्रमाण की भी स्वतंत्र चर्चा की गयी।[3]

पं. दलसुख मालवणिया[4] और पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य[5] ने जैनदर्शन के साहित्यिक विकास को चार युगों में विभक्त किया है। 1. आगम युग– विक्रम की पाचवी शती तक 2. अनेकान्त व्यवस्था युग– विक्रम की आठवीं शती तक 3. प्रमाण व्यवस्था युग– विक्रम की सत्रहवीं शती तक और 4. नवीन न्याय युग– आधुनिक समय पर्यन्त। डॉ. दरबारी लाल कोठिया ने ई.200 से ई.650 तक आदिकाल अथवा समन्तभद्र काल, ई. 650 से 1050 तक मध्यकाल अथवा अकलंक काल एवं ई.1050 से ई

1700 तक अन्त्यकाल अथवा प्रभाचन्द्र काल के रूप में जैनन्याय के विकास का काल माना है।[6] ये काल विभाजन प्रमाण व्यवस्थित स्थिति के सम्बन्ध में ठीक हैं, परन्तु प्रमाण व्यवस्था के सूत्रपात के रूप में नहीं, क्योंकि ई. प्रथम के लगभग जब जैनेतर दर्शनों में संस्कृत भाषा में दर्शन के ग्रन्थों का प्रणयन हो रहा था, उस समय तत्त्वार्थसूत्र के कर्ता उमास्वामी ने प्रथम बार आगमिक युग की ज्ञान चर्चा को प्रमाण के साथ संयुक्त कर प्रमाण के भेदादि का स्पष्ट प्रतिपादन किया, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोंनो परम्पराओं को मान्य हुआ।

वैदिक परम्परा के आद्य उपलब्ध ग्रन्थ ऋग्वेद में यथार्थ ज्ञान के लिए 'प्रमा' शब्द का प्रयोग पाया जाता है।[7] सायण ने प्रमा शब्द की व्याख्या में यज्ञवेदी की इयत्ता- परिमाण के लिए प्रमाण तथा इयत्ता परिज्ञान के लिए प्रमिति शब्द का प्रयोग किया है।[8] शतपथ ब्राह्मण एवं छान्दोग्य उपनिषद् में 'वाकोवाक्य' विद्या का उल्लेख है, जो बाद में तर्कविद्या के रूप अभिहित हुई।[9] ऐतरेय ब्राह्मण में युक्ति शब्द का प्रयोग पाया जाता है।[10] चरकसंहिता में प्रमाण शब्द का स्पष्ट उल्लेख पाया जाता है।[11] वेदों के परवर्ती उपनिषद् साहित्य में आत्म निरूपण के समय जिन तार्किक शब्दावलियों एवं वाक्यों का आश्रय लिया गया है, वे उत्तरवर्ती वैदिक दर्शनों के प्रमाणमीमांसा के आधार स्तम्भ बने। उदाहरण के लिए वैशेषिक सूत्र में यथार्थ एवं अयथार्थ ज्ञान के लिए प्रयुक्त विद्या एवं अविद्या पद उपनिषद् साहित्य में प्रयुक्त पराविद्या और अपराविद्या के विकसित रूप है। बाल्मीकि रामायण, महाभारत, मनुस्मृति आदि में आत्मविद्या के रूप में प्रतिष्ठित आन्वीक्षिकी विद्या को हेतुशास्त्र, हेतुविद्या, तर्कविद्या, वादविद्या आदि नामों से अभिहित किया गया।[12] कौटिल्य ने भी आन्वीक्षिकी विद्या को सभी विद्याओं में उत्तम कहा है।[13] वात्स्यायन ने इस विद्या को न्यायविद्या कहा है। प्रमाणों द्वारा वस्तुओं की परीक्षा करना न्याय है। इस तरह वैदिक दर्शनों के लिए गौतम कणाद आदि से पूर्व उस परम्परा के मनीषियों ने प्रमाण की मूलभूत सिद्धान्तों की सर्जना के लिए महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया।

कतिपय विद्वानो की दृष्टि में 'न्यायसूत्र' के कर्ता महर्षि गौतम प्रमाण शास्त्र के आदि प्रवर्तक माने गये हैं। परन्तु इनका समय अनिर्णीत है। सामान्य रूप से यह माना जाता है कि इनका काल ईसा पूर्व छठी शताब्दी से ईसा की पांचवी शताब्दी के मध्य कभी होना चाहिए।[15] बौद्ध परम्परा में बुद्ध परिनिर्वाण के पश्चात् लिखे गये त्रिपिटक एवं मिलिन्दपञ्हो आदि ग्रन्थों के विविध संवादों में प्रमाण के सूत्र उपलब्ध होते हैं।

प्रमाण व्यवस्था युग : प्रमाण लक्षण का विकास

प्रायः समस्त भारतीय दर्शनों के परम लक्ष्य मोक्ष के उपायों में प्रमाणों की आवश्यकता होती है। सभी ने अपनी-अपनी परम्परा के अनुसार प्रमाण का विवेचन किया है। कभी-कभी एक ही परम्परा के विवेचन में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है। सामान्यरूप से भारतीय प्रमाण शास्त्र में प्रमाण के स्वरूप के सम्वन्ध में दो दृष्टियाँ दृष्टिगोचर होती है- प्रथम ज्ञान को प्रमाण मानने वाली दृष्टि एवं द्वितीय इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि को प्रमाण मानने वाली दृष्टि। जैन और बौद्ध परम्परा में ज्ञान को प्रमाण माना गया है। दोनों में अन्तर इतना है कि जैन सविकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं और बौद्ध निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानते हैं। दूसरी परम्परा वेदिक दर्शनों की है जिसमें प्रायः इन्द्रिय सन्निकर्ष आदि को प्रमाण माना गया है अर्थात् इन परम्पराओं में ज्ञान के कारण को प्रमाण माना गया है और ज्ञान को उसका फल। जैनदर्शन में ज्ञान को प्रमाण मानने का कारण यह है कि जो जानने की प्रमारूप क्रिया है वह चेतन होने से उसमें साधकतम उसी का गुण ज्ञान ही हो सकता है।

प्र+मान शब्द के योग से निष्पन्न प्रमाण शब्द में प्र उपसर्ग पूर्वक मा धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर इसकी 'प्रमिणोति प्रमीयतेऽनेन प्रमितिमात्रं वा प्रमाणम्' व्युत्पत्ति की जाती है।[16] तात्पर्य यह कि प्रमाण शब्द भाव, कर्तृ और करण तीनों साधनों में निष्पन्न होता है। भाव की विवक्षा में प्रमा, कर्तृ की विवक्षा में शक्ति की प्रमुखता से प्रमातृत्व तथा

करण की विवक्षा में प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण की भेद विवक्षा होती है। सामान्य रूप से 'प्रमीयते येन तत्प्रमाणम्' अर्थात् जिसके द्वारा पदार्थों का ज्ञान हो उसका नाम प्रमाण है।

जैन दार्शनिकों ने ज्ञान पद के साथ सम्यक्, तत्त्व, स्वपरावभासक, अनधिगतार्थ, व्यवसायात्मक, बाधविवर्जित, अविसंवाद, अपूर्व आदि विशेषण संयुक्त कर विभिन्न कालों में प्रमाण की संस्कारित और विकसित परिभाषाऐं दीं। ईसा की प्रथम शती में हुए गृद्धपिच्छ उमास्वामी ने सूत्रयुग में ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में प्रमाणों में वर्गीकरण करके भी प्रमाण की स्पष्ट परिभाषा नहीं दी। इनके बाद द्वितीय शती में हुए आचार्य समन्तभद्र ने अनेकान्त की स्थापना के लिए प्रमाण के सुस्पष्ट स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए उसके आगमिक भेद, विषय, फल और प्रमाणाभास आदि प्रमाण से सम्बन्धित सभी विषयों का युक्तियुक्त प्रतिपादन किया, जो उत्तरवर्ती सभी प्रमाणशास्त्रियों के लिए आधारभूमि बना। आचार्य समन्तभद्र के सामने जहां पूर्वाचार्यों से प्राप्त मन्तव्यों का संरक्षण करना था वहीं दूसरी ओर प्रमाणशास्त्र के रूप में विकसित हो रही अन्य दार्शनिक परम्पराओं के साथ उनका सामंजस्य भी स्थापित करना था। इस दोहरे दायित्व का आ. समन्तभद्र ने अत्यन्त कुशलता के साथ निर्वाह किया है। उन्होंने प्रमाण को स्पष्ट परिभाषित करते हुए लिखा है कि युगपत् सर्व के अवाभासनरूप तत्त्वज्ञान प्रमाण है। स्याद्वाद नये संस्कृत क्रमभावि ज्ञान भी प्रमाण है।[17] स्वयम्भूस्तोत्र में उन्होंने स्वापरावभासी ज्ञान को प्रमाण मानकर[18] अन्यत्र इसी ग्रन्थ में विधिविषक्तप्रतिषेधरूपः प्रमाणम्[19] अर्थात् वस्तु के विधि और प्रतिषेध दोनों रूपों को ग्रहण करने वाला प्रमाण बताया है। अपने युक्त्यनुशासन नामक स्तुति ग्रन्थ में उन्होंने उमास्वामी की तरह प्रमाण को वस्तुतत्त्व को सम्यक्रूप से स्पष्ट करने वाला बताया है।[20] प्रमाण के लक्षण में उन्होंने आगमिक परम्परा का निर्वाह करते हुए ज्ञान की पूर्ण प्रमाणता सर्वभासकत्व में सिद्ध की है, जो अक्रमभावि – केवलज्ञानरूप होने से प्रमाण है। जो पदार्थो को एक साथ नहीं जानते बल्कि क्रम से जानते

हैं वे मति, श्रुत, अवधि और मनःपर्ययज्ञान भी स्याद्वाद नय से संस्कारित होने के कारण क्रमभावि – तत्त्वज्ञान के रूप में प्रमाण है।

जैनप्रमाणशास्त्र के इतिहास में समन्तभद्र ने प्रमाण के लक्षण की ऐसी सुदृढ़ नींव रखी, जिसपर उत्तरवर्ती आचार्यो ने नवीन शब्दावलियों का प्रयोगकर प्रमाण के भव्य प्रासाद निर्मित किये, परन्तु मूलस्वरूप में किसी भी आचार्य को विशेष परिवर्तन की आवश्यकता नहीं पड़ी। समन्तभद्र के बाद हुए आचार्य सिद्धसेन ने न्यायावतार[21] ग्रन्थ में "प्रमाण स्वपरावभासि ज्ञानं बाधविवर्जितम्" लिखकर प्रमाण को स्वपरावभासि होने के साथ बाधविवर्जित होना भी आवश्यक बताया है। अकलक ने समन्तभद्रोक्त प्रमाण लक्षण का समर्थन करते हुए 'स्व' पद के स्थान पर आत्मा, पर पद के स्थान पर अर्थ तथा अवभासक के स्थान पर व्यवसायात्मक पदों का प्रयोग करके उन्होंने आत्मार्थग्राहक व्यवसायात्मक ज्ञान को प्रमाण कहा है।[22] अन्यत्र उन्होंने अनधिगत अर्थ विषयक अविसंवादी ज्ञान को भी प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है।[23] अर्थ के विशेषण अनधिगत को उन्होंने अनिश्चत, अनिर्णीत आदि पदों द्वारा भी दर्शाया है।[24] माणिक्यनन्दि आचार्य ने इस लक्षण में अपूर्व पद का समावेश कर स्व और अपूर्व अर्थ के व्यवसायी ज्ञान को प्रमाण माना है।[25] आप्तमीमांसाभाष्य/अष्टशती पर अष्टसहस्री महाभाष्य लिखने वाले आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण के लक्षण में अनधिगत और अपूर्व विशेषण नहीं दिया है। इस विषय में उनका मन्तव्य है कि ज्ञान चाहे अपूर्व पदार्थ को जाने या गृहीत अर्थ को, वह स्वार्थव्यवसायात्मक होने से प्रमाण ही है। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रमाणपरीक्षा ग्रन्थ में सम्यग्ज्ञान को प्रमाण बताकर उसे स्वार्थव्यवसायात्मक सिद्ध किया है। विद्यानन्द के परवर्ती आचार्यो की परम्परा में हेमचन्द्र, धर्मभूषण आदि आचार्यो ने भी सम्यग्ज्ञान या सम्यक् अर्थ निर्णय को ही प्रमाण स्वीकृत किया है।

जैनेतर दर्शनों में प्रमाण

निर्विकल्पक ज्ञान को प्रमाण मानने वाली बौद्ध परम्परा में समन्तभद्र

के बाद हुए दिङ्नाग से पूर्व प्रमाण विवेचन को प्रमुखता नहीं दी गयी है। दिङ्नाग ने सर्वप्रथम अज्ञात अर्थ के प्रकाशक ज्ञान को प्रमाण बताकर प्रमाण की परिभाषा दी। तत्पश्चात् धर्मकीर्ति ने अविसंवादी ज्ञान को प्रमाण और अर्थक्रियाकारित्व को अविसंवाद कहा। वस्तुतः इस परम्परा के विज्ञानवादी दार्शनिकों द्वारा बाह्य अर्थ की सत्ता को स्वीकार नहीं किया गया है। इसलिए ज्ञानगत योग्यता ही उनके मत में प्रमाण हैं एवं स्वसंवेदन उसका फल। सौत्रान्तिक मत में बाह्य अर्थ की सत्ता को स्वीकार किया गया है, इसलिए ज्ञानगत अर्थाकारता या सारूप्य को प्रमाण का फल माना गया है, परन्तु दोनों एक ज्ञान के धर्म माने गये है। इस तरह जैनदर्शन के सामने बौद्धदर्शन में ज्ञान को प्रमा के साधकतम रूप में प्रमाण माना गया है, पर जैन नैयायिकों की दृष्टि में बौद्धों द्वारा मान्य ज्ञानगत सारूप्य, ज्ञानस्वरूप होने पर भी ज्ञान का विषयाकार होना किसी भी तरह सम्भव नहीं है, क्योंकि अमूर्तिक ज्ञान मूर्तिक पदार्थों का आकार ग्रहण नहीं कर सकता। उमास्वामी के समकालीन वैशेषिकदर्शन के प्रणेता कणाद ने निर्दोष विद्या को प्रमाण के रूप में स्वीकृत किया है। उन्होंने इन्द्रिय दोष तथा संस्कार दोष से उत्पन्न अयथार्थ ज्ञान को दुष्ट या अविद्या कहा है। उनका यह प्रमाण लक्षण कारणमूलक था। न्यायसूत्रकार गौतम ने प्रमाण के लक्षण का निर्दोष कथन नहीं किया है। किन्तु उनके भाष्यकार वात्स्यायन ने उपलब्धि के साधन को प्रमाण कहा है। उन्होंने प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दः कहकर करण अर्थ में प्रमाण शब्द की निष्पन्नता बताई है। न्यायदर्शन में इस तरह कारण शुद्धि से हटकर उपलब्धि रूप फल को प्रमाण का लक्षण माना गया है। ईसा की तीसरी शती के विद्वान् ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिका सांख्यदर्शन का प्रामाणिक ग्रन्थ माना गया है। जिसमें प्रमाण के स्वरूप का प्रतिपादन नहीं है, उसमें मात्र तीन प्रकार के प्रमाणों का ही निर्देश किया गया है। सांख्यकारिका के टीकाकार वाचस्पति मिश्र ने प्रमाण को प्रमा का साधन कहा है, जो बुद्धि या चित्त का धर्म माना गया है। योगदर्शन में भी प्रमाण के स्वरूप का प्रतिपादन न होकर पांच प्रकार की वृत्तियों में

प्रमाणवृत्ति का उल्लेख किया गया है। दोनों सांख्ययोग दर्शनों में बुद्धिनिष्ठ ज्ञान प्रमाण और पुरुषनिष्ठ ज्ञान को प्रमा कहा गया है। इस तरह न्यायवैशेषिक दर्शन में इन्द्रिय सन्निकर्ष को और सांख्ययोग दर्शन में इन्द्रियवृत्ति को प्रमाण माना गया है। जैनतार्किकों की दृष्टि में सन्निकर्ष और इन्द्रियवृत्ति अचेतन अज्ञान रूप होने से अपने विषय की प्रमिति के प्रति साधकतम नहीं हो सकती। अपने विषय की प्रमिति के प्रति साधकतम ज्ञान ही हो सकता है। मीमांसा दर्शन में प्रभाकर मतवाले अनुभूति और ज्ञातृव्यापार को प्रमाण कहते है। भाट्ट परम्परा में अज्ञात और यथार्थ अर्थ के निश्चायक ज्ञान को प्रमाण माना गया है। वेदान्त दर्शन में भी इसी तरह अबाधित अर्थ विषयक ज्ञान को प्रमा एवं उसके करण को प्रमाण माना गया है। जैनाचार्यो की दृष्टि में एक ही अर्थ की अनुभूति विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों को अपनी-अपनी भावना के अनुसार विभिन्न प्रकार की होती हैं। इसलिए अनुभूति को कैसे प्रमाण माना जा सकता है। ज्ञाता का व्यापार वस्तु के यथार्थ प्रतिबोध में कारण नहीं होता, जिससे विपरीत दिखाई देता है। इसलिए ये प्रमाण के लक्षण सदोष हैं।

प्रमाण भेद की ऐतिहासिक परम्परा

दिगम्बर आगमिक साहित्य में कुन्दकुन्द तक पंचज्ञानों की विस्तृत चर्चा पाई जाती है। तथा उनके प्रत्यक्ष परोक्ष भेद भी पाये जाते हैं, परन्तु उनका प्रमाणों में वर्गीकरण नहीं पाया जाता। कुन्दकुन्द के बाद सूत्रकार उमास्वामी ने प्रमाण का निर्वचन करने के साथ ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप में वर्गीकरण भी किया। उन्होंने मति और श्रुत को परोक्ष प्रमाण तथा अवधि, मनःपर्यय और केवलज्ञान को प्रत्यक्ष कहा। यह विभाजन आगमिक परम्परा से हटकर प्रतीत होता है, परन्तु समीक्षक विद्वानों की दृष्टि में यह विभाजन उनके द्वारा अन्य दर्शनों के प्रमाण निरूपण के साथ मेल बैठाने और आगमिक समन्वय के लिए ज्ञानकरणों की सापेक्षतता और निरपेक्षता पर आधारित था। मति,

स्मृति, संज्ञा- प्रत्यभिज्ञान, चिन्ता- तर्क और अभिनिबोध- अनुमान को मतिज्ञान के अन्तर्गत प्रमाणान्तर मानकर एवं उन्हें परोक्ष प्रमाण कहकर प्रमाण भेद व्यवस्था के लिए उन्होंने उत्तरवर्ती सभी जैन तार्किकों का मार्ग प्रशस्त किया। समन्तभद्र के ग्रन्थों में पंचज्ञानों में केवलज्ञान के अतिरिक्त अन्य ज्ञानों का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। तत्त्वार्थसूत्रकार की तरह उन्होंने प्रत्यक्ष और परोक्ष के रूप में प्रमाण का वर्गीकरण भी नहीं किया। उनका वर्गीकरण आगमिक परम्परा के अनुसार विषयाधिगम के क्रम और अक्रम पर आधारित था। इस प्रकार समन्तभद्र की दृष्टि में प्रमाण का प्रथम भेद युगपत्सर्वभासनरूप तत्त्वज्ञान- केवलज्ञान और दूसरा प्रमाण भेद स्याद्वाद नय से संस्कृत क्रमभावी ज्ञान है। ध्यातव्य है कि समन्तभद्र ने केवलज्ञान को साक्षात् ओर स्याद्वाद को असाक्षात् कहा। इसके वृत्तिकार आचार्य वसुनन्दि का मत है कि स्याद्वाद और केवलज्ञान ये दो प्रमाण हैं। उन्होंने साक्षात् का अर्थ प्रत्यक्ष और असाक्षात् का अर्थ अप्रत्यक्ष किया है।[43] अकलंक द्वारा भी समन्तभद्रोक्त प्रमाण भेद की व्याख्या में प्रत्यक्ष और परोक्ष भेदों की और संकेत किया गया जान पड़ता है। प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत मति आदि ज्ञानों के विभाजन विषयक तत्त्वार्थसूत्रकार की अवधारणा के अनुकरण की स्पष्टोक्ति समन्तभद्र की व्याख्या के प्रसंग में अकलंक की दृष्टि भी अनुत्तरित प्रतीत होती है। समन्तभद्र ने केवलज्ञान की पूर्ण प्रत्यक्षता को ध्यान में रखकर लौकिक दृष्टि से प्रत्यक्ष प्रमाण की सीमा बाह्य अर्थ तक विस्तृत कर दी। सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ अनुमेय होने से किसी के प्रत्यक्ष हैं, जैसे – अग्नि आदि।[44] यहां समन्तभद्र द्वारा प्रयुक्त प्रत्यक्ष पद स्पष्ट रूप से अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष प्रमाण के साथ इन्द्रिय प्रमाण की ओर भी संकेत करता है। स्वयम्भूस्तोत्रम् में आये दृष्ट और प्रत्यक्ष पद प्रत्यक्ष प्रमाण माने जाने की ओर स्पष्ट संकेत करते हैं।[45] विकसित प्रमाण युग में पाया जाने वाला अनुमान का सम्पूर्ण विवेचन क्रमभावी ज्ञान परोक्ष प्रमाण के अन्तर्गत, समन्तभद्र के ग्रन्थों में पाया जाता है।

समन्तभद्र के बाद आचार्य सिद्धसेन ने प्रमाण के प्रत्यक्ष और परोक्ष भेद माने हैं।[46] अन्यत्र उन्होंने स्वार्थ और परार्थ भेद भी किये हैं।[47] अकलंक ने समन्तभद्र और सिद्धसेन के पद चिह्नों पर चलते हुए उनके चिन्तन को प्रमुख आधार मानकर युगानुरूप प्रमाण भेद व्यवस्था की स्थापना की। प्रत्यक्ष प्रमाण के मुख्य और सांव्यवहारिक ये दो भेद किये।[48] मुख्य प्रत्यक्ष को अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष कहा। सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष के इन्द्रिय प्रत्यक्ष और अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष तथा एक स्थान पर प्रत्यक्ष के प्रादेशिक प्रत्यक्ष, अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष के रूप में तीन भेद किये हैं।[49] तत्त्वार्थवार्तिक में सर्वार्थसिद्धि की तरह प्रत्यक्ष के देशप्रत्यक्ष और सर्वप्रत्यक्ष भेद किये गये हैं।[50] अकलंक द्वारा स्वीकृत अशंतः अविशद और अस्पष्ट होने की स्थिति में परोक्ष प्रमाण के निम्नलिखित भेद– स्मरण/स्मृति, प्रत्यभिज्ञान/संज्ञा, तर्क/चिन्ता, अनुमान/अभिनिबोध और आगम/श्रुत परवर्ती प्रायः सभी जैन दार्शनिकों ने स्वीकृत किये हैं, जिनमें दर्शनान्तरों में मान्य द्व्यधिक प्रमाणों का अन्तर्भाव हो जाता है। श्वेताम्बर मान्य आगमों में ज्ञानों की चर्चा के साथ प्रमाण भेदों का भी स्पष्ट उल्लेख किया गया है। पं. सुखलाल संघवी ने अनुमान किया है कि श्वेताम्बर आगमों में प्रमाण भेदों की चर्चा बाद में प्रविष्ट हुई होगी।[51]

प्रमाण का विषय एवं फल

प्रमाण का विषय द्रव्यपर्यायात्मक, सामान्यविशेषात्मक एवं उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक है, जिसकी उपलब्धि एकान्त से नहीं हो सकती, क्योंकि अर्थ अनेकान्तात्मक है। इस विषय में प्रारम्भ से अद्यावधि कोई वैमत्य नहीं है। सभी ज्ञानों– प्रमाणों का फल अज्ञान का नाश है, यह विचार व्यक्त करते हुए समन्तभद्र ने युगपत् सर्वावभासक ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा एवं क्रमभावी ज्ञान प्रमाण का फल उपेक्षा के साथ हेय और उपादेय बुद्धि को माना है।[52] अकलंक और विद्यानन्द ने साक्षात् और परम्परा फल के रूप में प्रमाण के दो फल मानकर उन्हें कथंचित्

प्रमाण से अभिन्न और भिन्न माना है[53] तथा समन्तभद्र का समर्थन किया है। विद्यानन्द ने अज्ञाननिवृत्तिरूप स्वार्थ व्यवसित को प्रमाण फल की व्याख्या में संयुक्त कर विशिष्ट बौद्धिकता का परिचय दिया है।[54]

जैनप्रमाण शास्त्र को समृद्ध और विकसित स्वरूप प्रदान करने वाले आचार्यो का उनके कृतित्व सहित कालक्रम से विस्तृत विवरण देना इस आलेख में सम्भव नहीं है। संक्षिप्त रूप में हम कह सकते हैं कि उमास्वामी, समन्तभद्र, सिद्धसेन, अकलंक हरिभद्र, अनन्तवीर्य, विद्यानन्द, वसुनन्दि, माणिक्यनन्दि, वादीभसिंह, अभयदेवसूरि, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र, मल्लिषेण एवं यशोविजय–18वीं शती आदि आचार्यो ने जैनप्रमाण शास्त्र के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। वींसवी–इक्कीसवीं शती के मुनिराज श्रीप्रमाणसागर जी द्वारा सरल और प्रांजल भाषा में सृजित 'जैनधर्म और दर्शन' एक ऐसी अनूठी कृति है, जिसके स्वाध्याय से जैनधर्म दर्शन के दुरूह गम्भीर विषयों को अत्यन्त सुगम रीति से हृदयंगम किया जा सकता है। यदि उनके द्वारा जैनप्रमाण शास्त्र के इतिहास का इसी तरह सरल भाषा में लेखन हो जाये, तो जैनन्याय के जिज्ञासुओं का महान् कल्याण हो सकता है।

निष्कर्ष यह कि प्रमाण व्यास्था से पूर्व सभी दर्शनों में प्रायः जड़ और चेतन की स्वतंत्र वास्तविकता को स्वीकार किया गया है। इनके स्वरूप और पारस्परिक सम्बन्ध की स्थिति सत्य सिद्ध करने के लिए सभी ने कसौटी के रूप में प्रमाण व्यवस्था से पूर्व विद्या अविद्या, सम्यक् मिथ्या आदि को आधार बनाकर अपने मत को स्थापित करने के प्रयत्न किये। बाद में लगभग ईसा की प्रथम शती में प्रायः सभी भारतीय दर्शनों के द्वारा वस्तुतत्त्व की सत्यता सिद्ध करने के लिए मानक के रूप में प्रमाण को मान्य किया। प्रमाण का सूत्रपात एवं प्रमाण व्यवस्था का ऐतिहासिक काल प्रायः सभी दर्शनों का समान है। सामान्यरूप से प्रमा के साधकतम करण को भी सभी ने प्रमाण माना है, परन्तु करण के विषय में, अन्यदर्शनों से जैनदर्शन की दृष्टि भिन्न है। अन्यदर्शनों में जहां ज्ञान के कारण को प्रमाण एवं ज्ञान को उसका फल कहा है। वहां

जैनदर्शन में जानने रूप क्रिया के चेतन होने से उसमें साधकतम उसी का गुण ज्ञान ही हो सकता है। इसलिए इस परम्परा में सम्यग्ज्ञान को ही प्रमाण माना गया है, जिसमें विभिन्न कालों में जैनाचार्यो द्वारा प्रमाण के स्वरूप में दिये गये अविसंवाद, अपूर्व आदि सभी विशेषण गर्भित हो जाते है। प्रमाणमीमांसा पर चिन्तन करने वाले आचार्यो की वह परम्परा उमास्वामी, समन्तभद्र आदि से लेकर 18वीं शती के आचार्य यशोविजय तक अविच्छिन्न रूप से वृद्धिंगत होती रही, जिसमें आप्तमिमांसा आदि के कर्ता स्वामी समन्तभद्र जैनन्याय के जनक कहे गये। वैदिक दर्शन के लिए प्रमाणमिमांसा हेतु ऋग्वेदादि विशाल साहित्य उपलब्ध होने पर भी प्रमाण का सूत्रपात एवं व्यवस्था करने वाले सभी आचार्यो का काल प्रायः समान है। प्रमाण विषयक विवेचन के लिए जैन परम्परा में कुन्दकुन्द तक ज्ञान विवेचन की ठोस आधार भूमि प्रमाण विवेचक आचार्यो को प्राप्त हुई, जिसके आधार पर सर्व प्रथम उमास्वामी ने प्रमाण का सूत्रपात किया। तत्पश्चात् समन्तभद्र और सिद्धसेन इन दो आचार्यो ने प्रमाण की सूत्रपात रूपी नींव पर प्रमाण का भव्य प्रासाद निर्मित किया। इनके उत्तरवर्ती अकलक, विद्यानन्द आदि आचार्यो का आश्रय लेकर प्रमाणचर्चा को युगानुरूप ढांचे में ढालने का प्रयत्न किया।

सन्दर्भ निर्देश

1. आप्तमीमांसा, समन्तभद्र, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, दिल्ली, सन् 1961, कारिका 6, 2. सन्मतिप्रकरण, सिद्धसेन, स. सुखलाल सघवी, बे दोषी ज्ञानोदय ट्रस्ट, अहमदाबाद, 1963, गाथा 45, 3. आगम युग का जैनदर्शन, पं. दलसुख मालवणिया, सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा 1966, 4. वही पृष्ठ 281, 5. जैनदर्शन, पं. महेन्द्रकुमार जैन, गणेश वर्णी जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, 1974, पृ. 11, 6. जैनन्याय, प. कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, प्र. स. 1966, भूमिका पृ. 10, 7. ऋग्वेद सायणभाष्य सहित, वैदिक संशोधन मंडल, तिलक म. विद्यापीठ पूना, 1946, 10.130.3,7, 8. वहीं, सायणभाष्य, पृ 785–787 , 9. शतपथ ब्राह्मण, 4.6.9.20, 11.5.6.8 आदि, 10. ऐतरेय ब्राह्मण, 6.23, 11. चरकसंहिता, सूत्रस्थान, 11.32, 12. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, 1.13.23, 7. 53.15, महाभारत, आदिपर्व1.67, शान्तिपर्व 180.47, 210.12, 256.12 आदि, मनुस्मृति, 2.11, 6.50 आदि, 13. कौटिलीयम् अर्थशास्त्रम्, भाग 1, पृष्ठ 26, 28, 14. न्यायदर्शन,

न्यायसूत्र, न्यायभा न्यायवा.आदि सस्कृत ग्रन्थमाला कलकत्ता 1936 पृ. 38,52, 15 भारतीय दर्शन, सं. डॉ. न.कि देवराज, उत्तर प्रदेश हिन्दी सस्थान लखनऊ द्वि.सं. 1978, पृ 260, 16. सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, सन् 1935, 1.10, 17. आ मी कारिका 101, 18. समन्तभद्र ग्रन्थावली, अकलंककृत, आप्तमीमांसाभाष्य एव प जुगलकिशोर मुख्तार के हिन्दी अनुवाद सहित, सकलन, डॉ गोकुलचन्द्र जैन, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, बीना 1989, स्वय. 63, 19. वही, 101, 20. वही, युक्त्यनुशासन 6, 21 न्यायावतार, सिद्धसेन, परम श्रुत प्रभावक मडल बम्बई सन् 1950, 1, 22. आ. मी भाष्य, 36, 23 लघीयस्त्रय, का. 60, 24. वही, 101, 25. परीक्षामुख,11, 26. प्रमाणपरीक्षा, विद्यानन्द, डॉ. द. ला. कोठिया, वीर सेवा मन्दिर ट्रस्ट, वाराणसी, 1977 पृ 5, 27. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिकम् मनोहरलाल निर्णय सागर प्रेस, बम्बई 1918, 1 10 77,78, 28 प्रमाणमीमांसा, हेमचन्द्र, सं. सुखलाल संधवी जैन ग्रन्थ. अहमदाबाद 1939, 1.1.2, 29. न्यायदीपिका, धर्मभूषणयति, वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, 1945 पं. 9, 30 प्रमाणसमुच्चयवृत्ति सहित, मैसूर विश्वविद्यालय, पृ. 11, 31. प्रमाणवार्तिकम्, 13, 32 तत्त्वसग्रह पंजिका. पृ 319, 33 अप्टसहस्री, विद्यानन्द, अकलूज, सोलापुर, 1915, पृ. 276, 34. वैशेषिकसूत्र, 9.2.12, 35. वहीं, 36. न्यायभाष्य पृ. 91, 37. सांख्यतत्त्वकोमुदी, पृ. 216, 38. योगसूत्र,1.5, 39. प्रकरणपंजिका का. हि. वि. वि. काशी, 1961, पृ. 104,40. मीमासासूत्र, 1.1.5 एवं श्लोकवार्तिकम् चो. सूत्र श्लोक 80, 41. वेदान्तपरिभापा. पृ. 16, 42. आ. मी 105, 43. आ. मी. वृत्ति, 44. आ. मी. 5, 45. स्वय. 138 आदि तुलनीय आ. मी. 5,7,24 एव 26 युक्त. 22, 33, 38 आदि, 46. न्यायावतार, 4, 47 वही, 48. लघीयस्त्रय 4, 49. वही, वृत्ति 4, 50. तत्त्वार्थवार्तिकम् 1.20, 51. देखे, भाषा टिप्पण प्रमाणमीमांसा, 52. आ. मी का. 102, 53 भाष्य 102 एव अ. स. 102, 54 प्र. प. पृ. 66, 55. जैनधर्म और दर्शन, मुनि श्री प्रमाणसागर, प्रकाशक, पारस होम्स 22, अहिंसा, पुराना कबाड़खाना, जुमराती, भोपाल, छ. सं. 2000, 56 समन्तभद्र अवदान, डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन, प्रकाशक, स्याद्वाद प्रसारिणी सभा, चैतन्य निलय 3/359 न्यू विद्याधर नगर, जयपुर, राजस्थान, प्र. सं. 2001।

–III बी 25, नेहरुनगर
गाजियाबाद (उ.प्र)

'राजस्थान के कलात्मक जैन मंदिर'

–डॉ. कमला गर्ग

जैन धर्म का उद्देश्य है मनुष्य की परिपूर्णता अर्थात् संसारी आत्मा की स्वयं परमात्मत्व में परिणति। व्यक्ति में जो अन्तर्निहित दिव्यत्व है उसे स्वात्मानुभूति द्वारा अभिव्यक्त करने के लिए यह धर्म प्रेरणा देता है और सहायक होता है। संभवतया यही कारण है कि जैनों ने सदैव ललितकलाओं के विभिन्न रूपो को प्रश्रय एवं प्रोत्साहन दिया।

देश के सांस्कृतिक भण्डार को उन्होंने कला और स्थापत्य की अगणित विविध कृतियों से सम्पन्न किया, जिनमें से अनेकों की भव्यता और कला-गरिमा इतनी उत्कृष्ट बन पड़ी है कि उनकी उपमा नहीं मिलती। स्थापत्य शब्द से तात्पर्य मूर्तियों अथवा भवनों के निर्माण की किसी एक विशेष शैली से है, यह सीमित अर्थ है। स्थापत्य के अर्थ में व्यवहृत होने वाले अन्य शब्द "वास्तु कला" और "शिल्प कला" हैं। इसमें वास्तु कला अधिक व्यावहारिक एवं तर्कसम्मत है। यह शब्द औरों से अधिक प्रचलित तो है ही, साथ ही, अर्थ क्षमता कि दृष्टि से भी व्यापकत्व लिए हुए है। "शिल्प कला" प्रस्तर शिल्प अर्थात् मूर्ति निर्माण के कौशल तक ही सीमित रह गया है। अतः इसमें स्थापत्य या वास्तुकला जैसे शब्दों का स्थान लेने की क्षमता नहीं है।

मंदिर स्थापत्य प्राचीन काल से ही मूर्ति पूजा के आरम्भ और विकास के चरणों के साथ ही विकसित हुआ है। इसकी प्रगति विभिन्न कालों में पूजा-विधानों में होने वाले परिवर्तनों के साथ होती रही। मंदिर-स्थापत्य कला का विकास प्रत्यक्षतः मूर्ति-पूजा के परिणामस्वरूप हुआ, जो जैनों में कम से कम इतिहास-काल के आरंभ से प्रचलित रही है।

अपने मंदिरों के निर्माण में जैनों ने विभिन्न क्षेत्रों और कालों की प्रचलित शैलियों को तो अपनाया, किन्तु उन्होंने अपनी स्वयं की संस्कृति

और सिद्धांतों की दृष्टि से कुछ लाक्षणिक विशेषताओं को भी प्रस्तुत किया, जिनके कारण जैनकाल को एक अलग ही स्वरूप मिल गया।

प्राचीन जैन मंदिरों के अवशेष प्रायः लुप्त हो गए हैं, सम्भवतः इसका कारण हूणों का आक्रमण है। जो अवशेष अभी बचे हुए हैं। उनका समय-समय पर जीर्णोद्धार होता रहा है, जिसके कारण वे अपना परिवर्तन कर चुके हैं। अतः अब जैन मंदिरों की प्राचीन स्थापत्य सम्बधी जानकारी प्राप्त होनी कठिन हो गई है। इस कारणवश लगभग 8वीं शताब्दी से हमें मध्यकालीन जैन मंदिरों के स्थापत्य सम्बन्धी जानकारी प्राप्त होती है। यहाँ जैन मंदिरों से तात्पर्य जैन धर्म के अनुयायियों के संरक्षण में बनवाए हुए मंदिर हैं।

राजस्थान के अधिकतर मध्यकालीन जैन मंदिर नागर शैली के हैं। राजस्थान में प्रायः सभी स्थानों पर जैन मंदिर विद्यमान हैं, लेकिन सभी मंदिरों का जैन स्थापत्य दृष्टि से अपना विशेष लक्षण नहीं है। आठवीं, नवीं तथा 10वीं शती के मंदिर साधारण हैं, जो गुप्त काल के अंतिम चरम के अनुकरण हैं। 11वीं और 12वीं शताब्दी के मंदिर एक लम्बे अनुभव और लगातार विकास का परिणाम हैं। इस समय जैन स्थापत्य शैली अपनी चरम बिन्दु पर पहुँच चुकी थी, तथा एक दो शताब्दियों तक विकसित होती रही, परन्तु ऐसा होने पर इसने अपनी पूर्णता और शुद्धता विस्मृत कर दी, जो उसने आरम्भिक समय में प्राप्त की थी। उस चरम बिन्दु पर पहुँचने के पश्चात् उसका पतन प्रारम्भ हो गया, जिसके उदाहरण हमें वर्तमान समय तक उपलब्ध है।

राजस्थान के प्रारम्भिक मध्य काल के मंदिर नष्टप्राय हो गए हैं। अवशिष्ट मंदिरों में प्रमुख पाली जिले का घानेराव तथा जोधपुर जिले का ओसियां मंदिर महत्वपूर्ण हैं।

ओसियां (प्राचीन उपकेश) राजस्थान का सबसे पुराना मध्ययुगीन कला और स्थापत्य का उदाहरण है। यहाँ आठवीं शताब्दी के मंदिर प्राचीनतम हैं। यहाँ का प्रमुख मंदिर महावीर मंदिर है, जो ओसियां के

पश्चिम में स्थित है। शिलालेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण प्रतीहार वत्सराज के शासनकाल में हुआ। इस मंदिर में एक बड़ी जगती है, जो प्रमुख मंदिर और अन्य मंदिरों को आधार दिए हुए है। मुख्य मंदिर का मुख उत्तर की ओर है। इसमें मूलप्रासाद गूढ़मण्डल, मण्डप, मुख-चतुष्की है। इसके कुछ दूरी पर एक तोरण है। द्वार मण्डप के सामने वालाणक है। गर्भगृह के दोनों ओर तथा पीछे की ओर एक आच्छादित वीथी निर्मित है। मुख-मण्डप तथा तोरण के बीच के रिक्त स्थान के दोनों पार्श्वों में युगल देवकुलिकाएँ निर्मित की गई हैं। गर्भगृह एक वर्गाकार कक्ष है, जिसमें तीन अगों अर्थात् भद्र, प्रतिरथ तथा कर्ण का समावेश किया गया है। इसकी उठान में, पीठ के अन्तर्गत एक विशाल भित्त विस्तृत अंतर-पत्र और चैत्य तोरणों द्वारा अलंकृत कपोत सम्मिलित हैं, जिनके ऊपर बसंत-पट्टिका चौकी के समानान्तर स्थित पीठ के ऊपर वेदी-बंध स्थित है। वेदी-बंध के कुंभ देवकुलिकाओं द्वारा अलंकृत हैं। जंघा की परिणति पद्म वल्लरियों की शिल्पाकृति के रूप में होती है और वरण्डिका को आध ार प्रदान करती है। गर्भगृह के भद्रों को उच्चकोटि के कलत्मक झरोखों से युक्त गवाक्षों से संबद्ध किया गया है। ये गवाक्ष कमलपुष्पों, घटपल्लवों, कीर्तिमुखों तथा लतागुल्मों के अंकन द्वारा सुरुचिपूर्वक अलंकृत किये गए हैं। गूढ़-मण्डल की रूपरेखा में दो तत्व सम्मिलित हैं, भद्र और कर्ण। इसकी जंघा के अग्रभाग का अलंकरण यक्षों, यक्षियों और विद्यादेवियों की प्रतिमाओं द्वारा किया गया है, जिसका सौन्दर्य अद्भुत है। त्रिकमण्डप का शिखर गूढ़-मण्डप के सदृश फानसना प्रकार की दो पंक्तियों वाला है। फानसना छत घण्टा द्वारा आवेष्टित है। इसके त्रिभुजाकार तोरणों की तीन फलकों में देवी-देवताओं की प्रतिमाएँ उत्कीर्ण की गई हैं। शाला के चारों स्तंभ मूल रूप से चौकोर हैं और उन्हें घट-पल्लव, नागपाश और विशाल कीर्तिमुखों द्वारा अलंक्रत किया गया है। शाला के ऊपर की छत नाभिच्छंद शैली में निर्मित है और उसकी रचना सादे गजतालुओं द्वारा होती है। गूढ़-मण्डप की भित्तियों में पर्याप्त गहराई की दस देवकुलिकाएँ हैं। इन देवकुलिकाओं के शीर्ष पर निर्मित भव्य चैत्य-तोरणों पर जैन देवताओं की आकृतियाँ निर्मित हैं। इस समय

तोरण स्तम्भ ही अवशिष्ट हैं। इस तोरण पर संवत् 1035 का शिलालेख है जिसे सर्वप्रथम ढाकी द्वारा प्रकाश में लाया गया। इससे पहले भण्डारकर ने इसका समय पढ़ने में भूल की थी और 1075 पढ़ा था।[2]

ओसियां के महावीर मंदिर के विभिन्न भागों का सही समय बहुत समय से विवादास्पद है। उपकेशगच्छ पट्टावली इसकी मूर्ति का समय पॉचवीं शताब्दी स्वीकार करती है। ऐतिहासिक एवं पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर ओसियां आठवीं शता. से पहले अस्तित्व में नहीं आया था। "कक्सूरी" ने अपने "नाभीनन्दन जीर्णोद्धार" में मंदिर का 961 में पाये जाने का उल्लेख किया है और यह कथन "ओसवाल उत्पत्ति" के समानान्तर है।[3] भण्डारकर के निष्कर्ष के अनुसार यह मंदिर अन्य प्राचीन जैन मंदिरों के समान दोनों दिशाओं तथा पीछे से उसके सहायक मंदिरों द्वारा घिरा हुआ है, जिसका पता उनकी शैली से चलता है, जो कि मंदिर के समकालीन नहीं है और 10वीं शताब्दी के प्रतीत होते हैं। सम्भवतः उनका निर्माण तब हुआ जब जिनदत्त द्वारा नालपंडप का पुनर्निर्माण किया गया।[4] पर्सी ब्राउन के अनुसार यह मंदिर सर्वप्रथम आठवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में बनवाया गया था और 10वीं शताब्दी में इसका पुनर्निर्माण किया गया था, जो मंदिर के विभिन्न भागों के स्थापत्य को देखने से पता चलता है।[5]

घानेराव का महावीर मंदिर एक महत्वपूर्ण जैन तीर्थ है। यह मंदिर उत्तरमुखी है। इस मंदिर का मूल प्रासाद गूढ़ मण्डप से तथा मुखमण्डप से जुड़ा है। मुखमण्डप के पीछे रंगमण्डप है, जिसके शीर्ष पर प्राकार है। मंदिर के गर्भगृह की रचना शैली सरल है, जिसमें केवल दो अवयव हैं – भद्र और कर्ण। प्रदक्षिणापथ के तीन ओर बनाये गये भद्र-प्रक्षेपों को गूढ़-मण्डप की भित्तियों की भाँति सुन्दर झरोखों द्वारा सजाया गया है, जिनसे प्रकाश प्रस्फुटित होता है। मंदिर की रचना जाड्य कुंभ के पीठ-बंधों, कलश तथा सादी पट्टिकाओं को आधार प्रदान करने वाली युगल भित्तियों द्वारा हुई है। पीठ के ऊपर सामान्य रूप से पाये जाने वाले वेदी-बंध स्थित हैं, जो सादा होते हुए भी आकर्षक हैं। प्रत्येक झरोखे

युक्त भद्र के मध्य में भित्ति से थोड़ा बाहर की ओर निकलती हुई देव-कुलिकाएँ निर्मित की गई हैं। जंघाओं के कोनों पर दो भुजाओं वाले दिग्पालों की सुडौल आकृतियाँ उत्कीर्ण की गई हैं, जो मनोहर त्रिभंग मुद्रा में खड़ी हैं और जिन्हें कीचकों ने उठाया हुआ है। गूढ़ मण्डप के सिन्निकट त्रिक-मण्डप के प्राचीर स्तंभों पर नौवें और दसवें दिग्पाल ब्रह्मा तथा अनंत की मूर्तियाँ भी दिखाई पड़ती हैं। जंघा के स्थान पर छज्जों पर राजसैनिक, वेदिका, आसनपट्ट, कक्षासन गोटे लगाए गए हैं, जो छोरों पर शिल्पांकनो तथा स्पंदनशील आकृतियाँ से अलंकृत हैं। त्रिक मण्डप के सभी छह स्तंभ तथा चार प्राचीर-स्तंभ भव्य हैं और उनके ऊपरी भाग ललित रूप में उत्कीर्ण हैं। मुख-चतुष्की के सोपान के दोनों पार्श्वो पर विद्या-देवियाँ तथा यक्षों की आकृतियाँ बनी हुई हैं। अंतस्थ भवन की छत पर मनोरंजक और विविधतापूर्ण आकृतियों का चित्रण किया गया है। मुख-चतुष्की पर मसूराकार क्षिप्त-विमान का निर्माण किया गया है, जो नाभिच्छंद शैली में है। इस शैली की निर्मितियाँ वर्मन के ब्राह्मणस्वामी मंदिर, अउवा के कामेश्वर मंदिर और ग्यारसपुर के मालादेवी मंदिर जैसे प्राचीन मंदिरों में देखी जा सकती हैं। त्रिक-मण्डप की केन्द्रीय छत समतल वितान के रूप में है, जिसमें दण्ड-रास के उत्कीर्ण कला-पिण्डों से युक्त प्रभाग दर्शाए गए हैं। इस प्रकार कोटाई अन्य जगहों से भी जाने जाते है।[6] इसके बायीं ओर की पंक्तियों में नाभिच्छंद शैली में गजतालुओं के साथ क्षिप्त वितानों की रचना की गई है।[7]

गूढ़-मण्डप में पाँच शाखाओं के द्वारमार्ग का निर्माण किया गया है, जिस पर पत्र-शाखा और रूप-शाखा उत्कीर्ण है और पार्श्वभाग व्यालों अप्सराओं, पद्मपत्र-शाखा तथा रत्न शाखा से अलंकृत किये गये हैं, जिसके नीचे नागों की आकृतियाँ बनी हुई हैं। सरदल तथा रूप शाखा की देवकुलिकाओं में विद्यादेवियों अथवा यक्षियों की बीस आकृतियाँ उत्कीर्ण हैं। गर्भगृह का द्वार गूढ़-मण्डप के समान और अपने वाहनों पर आरूढ़ विद्यादेवियों और यक्षियों की आकृतियाँ रूप-स्तंभों पर उत्कीर्ण हैं। ढाकी, जिन्होंने इस मंदिर का विस्तृत अध्ययन किया है[8] इसे वास्तुकला की

मारु-गुर्जर शैली की मेदपाट (मेवाड़) शाखा का एक उत्कृष्ट उदाहरण मानते है और उन्होंने जगत के अंबिका मंदिर से शैलीगत समानताओं के आधार पर इसका निर्माणकाल मध्य दसवीं शताब्दी ठीक ही निर्धारित किया है। इस कालावधि का पुष्टीकरण इस स्थान पर पाये गये एक पादपीठ से होता है, जिस पर 954ई. का एक लेख भी उत्कीर्ण है, किन्तु अब वह पादपीठ अप्राप्य है।

जयपुर में सांगानेर स्थित सिंघी जी का मंदिर कलात्मकता का उदाहरण है। इस भवन के महत्वपूर्ण अंग सुरक्षित हैं। इस मंदिर की प्रमुख विशेषताओं में दो बड़े कक्ष शिखर-युक्त गर्भगृह सुसज्जित द्वार और मूर्त्यकन-युक्त अंत भाग जिसमें देवताओं की आकृतियाँ तथा अलंकरणों की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति हैं।[9]

देलवाड़ा के आबू मंदिर तो विश्वविश्रुत हैं। इन मंदिरों की स्थापत्य कला ने संसार की शिल्पशास्त्रीय परम्परा में कीर्तिमान स्थापित किया है, वह है– दण्डनायक विमल द्वारा 1032ई. में आबू पर बनवाया गया आदिनाथ का संगमरमरका प्रसिद्ध मंदिर, जो विमल वसहि के नाम से प्रसिद्ध है। इसके गर्भगृह, गूढ़-मण्डप और त्रिक-मण्डप ही मूल भाग हैं। उसके शेष भाग 12वीं शता. में जोड़े गए हैं।[10] यह मंदिर एक निरन्धर प्रासाद है। मूल प्रासाद, गूढमण्डप मुखमण्डप रंगमण्डप से सुसज्जित है। यह बावन देवकुलिकाओं से घिरा हुआ है। इसके बाहर बलानक के सामने हस्तिशाला है। हस्तिशाला विमल वसहि मंदिर के मुख्य द्वार के सामने बनी हुई है। इस हस्तिशाला के अन्दर तीन पंक्तियों में संगमरमर के सुन्दर कारीगरी युक्त झूल, पालकी और अनेक प्रकार के आभूषणों की नक्काशी से सुशोभित 10 हाथी हैं। इन सब पर एक-एक सेठ तथा महावत बैठते थे। प्रत्येक हाथी के होदे के पीछे छत्रधर अथवा चामरधर की दो-दो खड़ी मूर्तियाँ थीं किन्तु वे सब खंडित हो गई हैं। विमल वसहि के मुख्य द्वार और हस्तिशाला के बीच में एक बड़ा सभा मण्डप है। उसका निर्माण काल और निर्माण के विषय में कुछ भी सामग्री उपलब्ध नहीं है। इस सभा मण्डप के एक स्तंभ के पीछे पत्थर के एक छोटे स्तंभ

में इस प्रकार का दृश्य बना है– एक तरफ एक पुरुष घोड़े पर बैठा है, एक छत्रधर उस पर छत्र रख रहा है। इस दृश्य के दूसरी तरफ वही मनुष्य हाथ जोड़ कर खड़ा है। इन पर छत्र रखकर एक छत्रधर खड़ा है। पास में स्त्री तथा पुत्र खड़े हैं। नीचे संवत् रहित लेख खुदा है, जिसमें बारहवीं शताब्दी के सुप्रसिद्ध राज्यमान्य श्रावक श्रीपाल कवि के भाई शोभित का वर्णन है।[11]

देलवाड़ा के प्रसिद्ध जैन मंदिरों में विमल वसहि के बाद बनने वाला लूण वसहि मंदिर महामात्यवस्तुपाल-तेजपाल द्वारा बनवाया गया। विमल वसहि मंदिर के पास ही उसी के समान उत्तम कारीगरी-नक्काशी वाले संगमरमर का मूल गंभारा, गूढ़ मण्डप, नव चौकियाँ, रंग मण्डप, बलानक खत्तक, जगति की देहरियाँ तथा हस्तिशाला से अत्यन्त सुशोभित हैं। इस मंदिर के गूढ मण्डप के मुख्य द्वार के बाहर नव चौकियों में दरवाजे के दोनों तरफ अलंकृत नक्काशी वाले दो आले हैं। इस मंदिर का अलंकरण विमल-वसहि के समान है। विमल-वसहि और लूण-वसहि मंदिरों की दीवारें, द्वार, स्तंभ, मंडप, तोरण और छत के गुम्बज में न केवल फूल, झाड़, बेल, बूटे, हडियाँ और झूमर आदि विभिन्न प्रकार की विचित्र वस्तुओं की खुदाई ही की है; अपितु हाथी, घोड़े, ऊँट, व्याघ्र, सिंह, मत्स्य, पक्षी, मनुष्य और देव-देवियों की नाना प्रकार की मूर्तियों के साथ ही साथ मनुष्य जीवन के जुड़े अनेक प्रसंग– जैसे राज दरबार, सवारी, वरघोड़ा बारात, विवाह प्रसंग में चौरी आदि नाटक, संगीत, रणसंग्राम, पशु चराना, समुद्र यात्रा पशुपालों का गृह– जीवन, साधु और अनेक श्रावकों की अनेक प्रसंगों की धार्मिक क्रियाएँ, व तीर्थंकरादि महापुरुषों के जीवन के अनेक प्रसंगों की भी बड़ी सुन्दर मनोहर खुदाई की है।

मंदिर की देहरी न.9 के दूसरे गुम्बज में द्वारिका नगरी और समवसरण का दृश्य है, उसके मध्य में तीन गढ़ वाला समवसरण है। जिसके मध्य में जिन मूर्ति युक्त देहरी है। समवसरण की एक तरफ एक पंक्ति में साध ुओं की बारह बड़ी और दो छोटी मूर्तियाँ हैं। दूसरी तरफ एक पंक्ति में श्रावकों और दूसरी पंक्ति में श्राविकायें हाथ जोड़ कर बैठी हैं। गुम्बज के

एक कोने की चौकड़ी में समुद्रको दिखाया है। उस समुद्र में से खाड़ी निकाली गई है, जिनमें जलचर जीव क्रीड़ा कर रहें हैं। खाड़ी में जहाज भी है। समुद के किनारे के आसपास जंगल का दृश्य है। जंगल के एक प्रदेश में एक मन्दिर व भगवान की प्रतिमा युक्त एक देहरी है। गुम्बज के दूसरे कोने में गिरिनार पर्वतस्थ मंदिरों का दृश्य है, शिखर युक्त चार मंदिर हैं। मंदिर के बाहर भगवान की कायोत्सर्ग ध्यान की खड़ी मूर्ति है। मंदिर छोटी-छोटी देहरियों तथा वृक्षों से घिरे हुए हैं। मंदिरों के पास के बीच की पंक्ति में पूजा की सामग्री-कलश, फूल-माला, धूपदान और चामरादि हाथ में लेकर श्रावक लोग मंदिरों की ओर जाते हैं। उनके आगे छः साधु भी हैं। जिनके हाथ में ओघा व मुँहपत्ति के अतिरिक्त एक के हाथ में तरपणी ओर एक के हाथ में दंड है। अन्य सब पंक्तियों में हाथी, घोड़े, पालकी, नाटक, वजिंत्र, पैदल सेना तथा मनुष्यादि हैं। वे सब मंदिर की अथवा समवसरण की तरफ जिन दर्शनार्थ जा रहे हों ।[12] 'कुमार' मासिक के संपादक ने इन मंदिरों की सुंदरता को इन शब्दों में व्यक्त किया "विमलशाह का देलवाड़े में बनवाया हुआ महान देवालय समस्त भारतवर्ष में शिल्पकला का अपूर्व अनुपम नमूना है। देलवाड़े के मंदिर केवल जैन मंदिर ही नहीं हैं, वे गुजरात के अतुलनीय गौरव की प्रतिमा है।"[13]

जैन मंदिरों में कुछ उल्लेखनीय जैन मंदिर जैसलमेर के दुर्ग में भी पाये गए हैं। जिनमें पार्श्वनाथ, आदिनाथ शांतिनाथ, संभवनाथ और महावीर आदि के हैं। इन मंदिरों के विषय में ढ़ाकी का मत उल्लेखनीय है कि 'रेगिस्तानी निर्जन क्षेत्र में लगभग एक शताब्दी तक इन मंदिरों का निर्माण मानो एक वंश परंपरानुगत क्रम में हुआ है– जैसे पिता के उपरांत पुत्र जन्म लेता है। इनकी विकास परम्परा निर्विघ्न रूप में स्थिर गति से बढ़ती रही है जिसे देखकर इसकी प्रगति अथवा अन्यथा स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।"[14]

इन मंदिरों में सबसे प्राचीन मंदिर पार्श्वनाथ 15वीं शताब्दी की कलात्मकता का उत्कृष्ट तोरण, अलंकृत मुख-चतुष्की, रंग-मण्डप,

त्रिक-मण्डप गूढ़-मण्डप मूल-मण्डप के स्तंभ और छत के अलंकरणों में कुछ अवशिष्ट आलंकारिक विशेषताएँ प्राचीन महा-मारु स्थापत्यीय शैली का स्मरण कराती हैं। यह मंदिर पत्र, पुष्पों, पशु, पक्षियों, मानव-आकृतियों तथा आलंकारिक कला प्रतीकों के समृद्ध अंकन द्वारा अति-सुसज्जित है। छत, स्तंभ, टोड़े, तोरणों की आकृतियाँ रीतिबद्ध होने पर भी आकर्षक हैं।

चित्तौड़ या चित्रकूट मध्यकालीन जैन स्थापत्य का एक सर्वाधिक उल्लेखनीय केन्द रहा है। यहाँ जैन मंदिर पर्सी ब्राउन के अनुसार चौदहवीं शताबदी का है और यह उसी स्थान पर बना है जहाँ पहले इसका मूल मंदिर स्थित था।[15] इसके शिखर और गुंबद-युक्त मण्डप का बाद में पुनरुद्धार कियाा गया। परन्तु इसका गर्भगृह अंतराल और उससे संयुक्त मण्डप वाला निचला भाग पुराना ही है। इसकी चौकीदार पीठ पर स्थित बाह्य संरचना में शिल्पांकित आकृतियाँ तथा अन्य अलकृतियों उत्कीर्ण हैं, जो कलात्मक दृष्टि से अत्यंत संपन्न हैं इस मंदिर का रथ-भाग, छाद्य तथा अन्य बाह्य संरचनाएँ इसे अतिरिक्त सौन्दर्य प्रदान करती हैं। तीर्थकर शांतिनाथ को समर्पित श्रृंगार-चौरी स्थापत्यीय दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। सन् 1448 में निर्मित यह मंदिर पंचरथ प्रकार का है, जिसमें एक गर्भगृह तथा उत्तर और पश्चिम दिशा से संलग्न चतुष्कियों हैं। गर्भगृह अंदर से अष्टकोणीय है, जिस पर एक सादा गुंबद है। मंदिर की बाह्य संरचना अनेकानेक प्रकार की विशेषताओं से युक्त मूर्ति-शिल्पों से अलंकृत है और जंघा-भाग पर उत्कीर्ण दिक्पालों, अप्सराओं, शार्दूलों आदि की प्रतिमाएँ हैं। मानवों की आकर्षक आकृतियों के शिल्पांकन भी यहाँ पर उपलब्ध हैं। मुख्य प्रवेश-द्वार की चौखट के ललाट बिंब में तीर्थकर के अतिरिक्त गंगा और यमुना विद्यादेवियों तथा द्वारपालों की प्रतिमाएँ अंकित हैं। गर्भगृह के मध्य में मुख्य तीर्थकर प्रतिमा के लिए एक उत्तम आकार की पीठ है तथा कानों पर चार स्तंभ हैं जो वृत्ताकार छंत को आध ार प्रदान किए हुए है' छत लहरदार अलंकरण युक्त अभिकल्पनाओं से अलंकृत है। इस मंदिर के मूर्ति शिल्प का एक उल्लेखनीय पक्ष यह है कि

मंदिर के बाह्यभाग के भीतर अष्टभुजी विष्णु और शिवलिंग जैसी हिन्दू देवताओं की अद्भुत प्रतिमाएँ भी हैं। चारित्रिक विशेषताओं की दृष्टि से ये शिल्पांकित आकृतियाँ विशुद्ध रूप से परम्परागत हैं।

चित्तौड़ का दूसरा उल्लेखनीय मंदिर सात-बीस-ड्योढ़ी है, जिसका रचनाकाल शैलीगत आधार पर 15 वीं शताब्दी निर्धारित किया जा सकता है। इस मंदिर में गर्भगृह अंतराल, गूढ़-मण्डप के पार्श्व में छोटे-छोटे देवालय भी हैं। सप्तरथ प्रकार के शिखर के चारों ओर अंगों और कर्ण-श्रृंगों की तीन पंक्तियाँ भी संलग्न हैं।

राजस्थान के मध्यकालीन कला इतिहास की दृष्टि से बीकानेर के जैन मंदिर भी महत्वपूर्ण हैं। बीकानेर का सबसे प्राचीन पार्श्वनाथ जैन मंदिर है। संरचना की दृष्टि से यह मंदिर एक अत्यंत महत्वाकांक्षी योजना है और इसमें भारतीय इस्लामी स्थापत्य के तत्वों का निश्चित रूप में प्रयोग हुआ है। इस मंदिर की शैली में परंपरागत तथा मुगल, इन दो शैलियों का समन्वय है, जिसमें परंपरागत शैली का शिखर तथा मुगल-शैली का मण्डप विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इस मंदिर के लम्बे शिखर की बाह्य संरचना में बाह्य कोणों तथा लघु शिखरो से युक्त उरःश्रृंगो का सुंदरता के साथ उपयोग किया गया है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक दिशा के मध्य भाग में प्रक्षिप्त दो तलों वाले गोखे हैं। इस मंदिर का विवरण देते हुए गोऐत्ज ने लिखा है –"इस मंदिर का गर्भगृह एवं प्रदक्षिणापथ द्वितल है। प्रत्येक तल में चारों ओर प्रवेश द्वार हैं, ऊपरी तल के चारों द्वार गोखों में खुलते हैं। ये चारों गोखे एक तंग सीढ़ियों द्वारा परस्पर संबंधित हैं। ऊपरी तल के मध्यवर्ती कक्ष में जैन प्रतीक समवसरण का अंकन जिसमें 'विश्व-नगर' की अध्यक्षता करते हुए धर्म-प्रचारक तीर्थकर सर्वतोभद्र रूप से दर्शाये गये हैं। यह मंदिर जैसलमेर के पीले पत्थरों से निर्मित है। इस मंदिर का स्थापत्य मारवाड़ और जैसलमेर के समकालीन अन्य जैन मंदिरों की भांति अनगढ़ है परन्तु मण्डप, उसके चारों ओर की वीथियाँ तथा प्रवेश मण्डप के कारण यह प्रभावशाली बन पड़ा है। इन संरचनाआ का आंशिक रूप से पुनर्निर्माण सत्रहवीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल में हुआ है।"[16]

दूसरा उल्लेखनीय मंदिर चिंतामणि राव बीका जी का है, जो 1505 में पूरा हुआ। इस मंदिर में एक गर्भगृह तथा उससे संलग्न एक मण्डप है। आगे चलकर इस मंदिर का विस्तार किया गया, जिसमें एक अन्य मण्डप तथा दो दिशाओं में प्रवेश-द्वार एवं मुख-मण्डप और जोड़ दिए गए। इसका मूल-प्रासाद मध्यकालीन गुर्जर शैली का है तथा इसकी ऊँचाई कम है। इसकी बाह्य संरचनाओं में गुम्बद युक्त मण्डपों तथा स्तंभों और उनके शीर्षों की अभिकल्पना एवं स्थापत्यीय निर्माण में अहमदबाद और चांपानेर की सल्तनत स्थापत्य शैली के प्रभाव को ग्रहण किया।

मध्यकालीन जैन मंदिरों में कुछ मंदिर फलौदी, कोटा, किशनगढ़, मारोठ, सीकर तथा राजस्थान के अन्य स्थानों में भी सुरक्षित बचे हुए हैं। इनमें से कोई भी मंदिर संरचना की दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय नहीं है। पश्चिम भारत के इतिहास में मुसलमानों के विध्वंसक अभियानों के लिए तेरहवीं शताब्दी के अंतिम तथा चौदहवीं शताब्दी के प्रारंभिक वर्ष उल्लेखनीय रहे हैं। धार्मिक ईर्ष्या तथा धन लोलुपता के कारण विशेष कर अलाउद्दीन खिलजी ने पश्चिम भारत के असंख्य मंदिरों का जी भरकर विध्वंस किया। इस क्षेत्र का जन समाज जब से आघात को सहकर ऊपर उठने में सफल हुआ तो उसके अंदर कुछ नये मान-मूल्यों ने स्थापना पायी, जिसके साथ उसे अपने कुछ समृद्ध पारंपरिक मान-मूल्यों को भी छोड़ना पड़ा। इस क्षेत्र के जैनों ने भी ध्वस्त मंदिरों का पुनरुद्धार तथा नये मंदिरों का निर्माण कराकर पवित्र कार्यो के संपादन में अपने उत्साह का प्रदर्शन किया।

जैनों द्वारा कराये गये स्थापत्यीय निर्माणों की दृष्टि से पंद्रहवीं शताब्दी पश्चिम-भारत के लिए विशेष उल्लेखनीय प्रतीत होती है। इस समय का रणकपुर का चौमुखा मंदिर श्रेष्ठतम उदाहरण है। यह आदिनाथ या युगादीश्वर-मंदिर है। मन्दिर के मुख-मण्डप के प्रवेश-द्वार के पार्श्व में लगे एक स्तंभ पर अंकित अभिलेख के अनुसार इस मंदिर का निर्माण सन् 1439 में एक जैन धर्मानुयायी, धरणाक के अनुसार देवाक नामक वास्तुविद् ने किया था। इस भव्य चौमुखा मंदिर के निर्माण में कला और

स्थापत्य के महान प्रश्रयदाता राणा कुंभा का योगदान रहा है। यह मंदिर 3716 वर्ग-मीटर क्षेत्र में फैला है। इसमें उन्नतीस बड़े कक्ष तथा 420 स्तंभ हैं। इससे स्पष्ट है कि इस मंदिर की योजना निस्संदेह ही महत्वाकांक्षी रही है। मंदिर की विन्यास-रूपरेखा जटिल है। ढलान पर स्थित होने के कारण मंदिर के जगती या अधिष्ठान-भाग को इसके पश्चिम दिशा में यथेष्ट ऊँचा बनाया गया है। केन्द्रवर्ती भाग में वर्गाकार गर्भगृह स्थित है। प्रत्येक द्वार रंग-मण्डप में खुलता है। और इस रंग-मण्डप का द्वार एक दोतल्ले प्रवेश-कक्ष में खुलता है। इस मण्डप के बाद एक कक्ष आता है, जो आकर्षक है। यह कक्ष भी दोतल्ला है, इस भाग में सीढ़ियाँ हैं, इसलिए इसे बलन या नाली-मण्डप कहा जाता है। लगभग 62 मीटर तथा 60 मीटर लबे-चौडे क्षेत्रफल के आयताकार दालान, जिसमें चारों ओर प्रक्षिप्त वाह्य भाग की मुख्य संरचनाएँ सम्मिलित नहीं हैं। इस सीमा भित्ति के भीतर की सतह पर 86 देवकुलिकाओं की एक लम्बी पंक्ति है। मंदिर के शीर्ष पर पॉच शिखर हैं, जिनमें से सबसे बड़ा और प्रमुख शिखर गर्भगृह को मण्डित किये हुए है। शेष चार शिखर चारों कानों पर पर स्थित देवालयों को मण्डित किये हुए हैं। इस आयताकार मण्डप में किसी भी प्रवेश-मंडप से प्रवेश किया जा सकता है, जो दो तल वाले हैं। इन प्रवेश-मण्डपो मे सबसे बड़ा पश्चिम की ओर है, जिसे निस्संदेह मुख्य प्रवेश-मण्डप माना जा सकता है। गर्भगृह की आंतरिक संरचना स्वस्तिकाकार कक्ष के रूप में है। इस मंदिर की विशेषता उसकी ऊँचाईयॉ विशद विन्यास-रूपरेखा और उसपर सुदक्षतापूर्ण ही नहीं वरन् उसकी विविधता तथा उसके विभिन्न भागों की बहुलता है। मंदिर की सुन्दरता के लिए फर्ग्युसन द्वारा सही ही कहा गया है। "इसके अनेकानेक मंदिर और इन भागों के सामान्यतः लघु आकार यद्यपि इस मंदिर के एक स्थापत्यीय वैभवपूर्ण संरचना होने के दावे में बाधक हैं परन्तु इन भागों की विविधता प्रत्येक स्तंभ पर किया गया एक दूसरे से सर्वथा भिन्न सूक्ष्मांकन का सौन्दर्य, उसकी व्यवस्था-क्रम उसकी मोहकता, सपाट दतों पर विभिन्न ऊँचाईयों के गुंबदों का सुरुचिपूर्ण समायोजन तथा प्रकाश के लिए बनायी गयी संरचनाओं की विधि– ये समस्त विशेषताएँ मिलकर

एक अत्युत्तम प्रभाव की सृष्टि करती हैं। भारत में वस्तुतः इस प्रकार का कोई अन्य मंदिर या भवन नहीं हैं। जिसके अंतर्भाग में स्तंभों का इतना लावण्यपूर्ण संयोजन रहा हो और उसकी संरचना कुल मिलाकर इस मंदिर की भाँति प्राभावोत्पादक रही हो।[17] इस मंदिर के स्तंभ भी अभिकल्पनाओं की विविधता के लिए अद्भुत हैं। क्योंकि मंदिर के 420 स्तंभों में से किसी भी स्तंभ की अभिकल्पना एक दूसरे के समरूप नहीं है, मानव आकृतियों के अंकन की अपेक्षा मूर्तिकारों ने देव-प्रतिमाओं के अंकन में निस्संदेह धर्म ग्रंथों एवं शिल्प कला संबंधी ग्रंथों का अध्ययन कर उनके निर्देशन का परिपालन किया है, तभी वे इन देव प्रतिमाओं द्वारा तत्कालीन धार्मिक माँगों को पूरा कर सके हैं।

संदर्भ सूची

1. जैन.के.सी. जैनिज्म इन राजस्थान शोलापुर, 1963, पृ. 112, 2. हाण्डा, देवेन्द्र, ओसियां, हिस्ट ्री, आर्केलोजी आर्ट एण्ड आर्कीटेक्चर दिल्ली, 1984, पृ. 47, 3. शाह, अम्बालाल प्रेमचन्द, जैन तीर्थ सर्व संग्रह भाग–1 (गुजराती, 1953) पृ. 1.73, 4. भाण्डाकर, डी.आर, 'एनवल रिपोर्ट ऑफ दी आर्केलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया' 1908 कलकत्ता, 1912, पृ. 108, 5. ब्राउन, पर्सी, इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू पीरियड) दूसरा संस्करण, पृच 140, 6. नानावती जे.एम. और ढाकी, एम.ए.- द सीलिंग्स इन द टेम्पल्स ऑफ गुजरात, बुलेटिन ऑफ द म्युजियम एण्ड पिक्चर गैलेरी, बड़ौदा, भाग XVIXVII पृ. 45, 7. वही, 8. ढाकी., एम.ए., सम अर्ली जैन इन वेस्टर्न इन्डिया, महावीर जैन विद्यालय गोल्डन जुबली वाल्यूम खण्ड-1, बमबई 1968 पृ. 332, 9. घोष, अमलानन्द, जैन कला एवं स्थापत्य खण्ड-2 नई दिल्ली, 1975, पृ. 252, 10. वही, पृ. 304, 11. विजय, जयन्त, आबू (प्रथम भाग), सिराही 1933, 12. वही, पृ. 154-56

13. वही, पृ. 166, 14. ढाकी, एम.ए., रिनेसॉस एण्ड द लेट मारु ग्रर्जर टेम्पल आर्किटेक्चर जर्नल ऑफ द सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट स्पेशल नम्बर 1965-66, कलकत्ता, पृ. 8, 15. ब्राउन, पर्सी, इण्डियन आर्किटेक्चर (बुद्धिस्ट एण्ड हिन्दू) बम्बई, 1957, पृ. 123, 16. गाऐत्ज , हरमन, दि आर्ट एण्ड आर्किटेक्चर ऑफ बीकानेर ऑक्सफोर्ड, 1950, पृ. 59, 17. फर्ग्यूसन, जेम्स, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एण्ड ईस्टर्न आर्कीटेक्चर, पुनर्मुद्रित, दिल्ली 1967 पृ. 60

—असो. प्रोफे. चित्रकला विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

भगवान महावीर और परिग्रह-परिमाण व्रत

-डॉ. सुरेन्द्र कुमार जैन

जैन धर्मानुसार आत्मा पुरुषार्थ करे तो परमात्मा बन जाती है। एक बार परमात्म-पद प्राप्त हो जाने के बाद संसार में पुनरागमन नहीं होता। भगवान महावीर का निर्वाण के उपरान्त संसार में पुनः आगमन नहीं हो सकता; लेकिन जिस जीव का आगमन संसार में हुआ है उसका स्व पुरुषार्थ के बल पर परमात्मा बन भगवान महावीर जैसा बनना सुनिश्चित है। भगवान महावीर की साधना किसी एक जन्म की नहीं अपितु अनेक जन्मों की साधना का परिणाम थी, जिसका लक्ष्य (मोक्ष) प्राप्त होना अवश्यंभावी था।

तीर्थकर का जन्म मात्र स्व-उपकार के लिए ही नहीं अपितु पर-उपकार के लिए भी होता है। तीर्थकर के जन्म के पूर्व की परिस्थितियाँ भी उनकी आवश्यकता को प्रतिपातिद करती हैं। 'वीरोदय महाकाव्य' के अनुसार-

> **''मनोऽहिवद्विमकल्पहेतुर्वाणी कृपाणीव च मर्म भेत्तुम्।**
> **कायोऽप्यकायो जगते जनस्य न कोऽपि कस्यापि बभूव वश्यः॥**
> **इति दुरितान्धकारके समये नक्षत्रौघसङ्कुलेऽघमये।**
> **अजनि जनाऽऽह्लादनाय तेन वीराह्वयवरसुधास्पदेन॥''**

अर्थात् उस समय के लोगों का मन सर्प के तुल्य कुटिल हो रहा था, उनकी वाणी कृपाणी (छुरी) के समान दूसरों के मर्म को भेदने वाली थी और काय भी पाप का आय (आगम-द्वार) बन रहा था। उस समय कोई भी जन किसी के वश में नहीं था; अर्थात् लोगों के मन-वचन काय की क्रिया अति कुटिल थी और सभी स्वच्छन्द एवं निरङ्कुश हो रहे थे। इसप्रकार पापान्धकार से व्याप्त, दुष्कृत-मय, अक्षत्रिय जनों के समूह से

संकुल समय में, अथवा नक्षत्रों के समुदाय से व्याप्त समय में उस 'वीर' नामक महान चन्द्र ने जनों के कल्याण के लिए जन्म लिया।

'वीर' ने जन्म लेकर 'वर्द्धमान' नाम सार्थक करते हुए महावीरत्व की साधना पूर्ण की। वे पूर्ण-ज्ञान होते ही केवल ज्ञानी-सर्वज्ञ बने। उनके सद्‌विचारों का सम्प्रेषण दिव्यध्वनि के माध्यम से हुआ। उन्होंने आचार सिखाने से पूर्व अपने विचारों से मानव हृदयों, पशु-पक्षियों तक को अभिसिंचित किया। उनकी धारणा थी कि विचार विहीन आचार जड़ता का प्रतीक है। नीति कहती है–

चारित्रं नरवृक्षस्य सुगंधि कुसुमं शुभम्।
आकर्षणं तथैवात्र लोकानां रंजनं महत्॥

अर्थात् चारित्र मनुष्य रूपी वृक्ष का सुन्दर, सुगन्धित पुष्प के समान ही उदात्त चरित्र सबको अपनी ओर आकृष्ट करता है और सबको प्रसन्नता प्रदान करता है।

इस चारित्र की सुगन्ध तभी हो सकती है जबकि यह व्यक्ति धर्म से जुड़ धर्मात्मा बने। धर्मपालन मन की शुद्धि, विचारों की शुद्धि एवं कार्यों की शुद्धि से ही संभव है। मन की शुद्धि के विषय में कहा गया है कि–

मनः शुद्धयैव शुद्धिः स्याद् देहिनां नात्र संशयः।
वृथा तद्व्यतिरेकेण कायस्यैव कदर्थनम्॥

अर्थात् मन की शुद्धि से आत्मा की शुद्धि होती है। मन की शुद्धि के बिना केवल शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है। सच्चारित्र की प्राप्ति के लिए जितेन्द्रिय होना आश्यक है। 'ज्ञानार्णव' में आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है कि–

इन्द्रियाणि न गुप्तानि नाभ्यस्तश्चितनिर्जये।
न निर्वेदः कृतो मित्र नात्मा दुःखेन भावितः॥

एवमेवापवर्गाय प्रवृत्तैर्ध्यान साधने।
स्वयमेव वञ्चितं मूढैर्लोकद्वयपथच्युतै ॥[२]

अर्थात् हे मित्र! जिसने इन्द्रियों को वश में नहीं किया, चित को जीतने का अभ्यास नहीं किया, वैराग्य को प्राप्त नहीं हुए, आत्मा को कष्टों से भाया नहीं और वृथा ही मोक्ष हेतु ध्यान में प्रवृत्त हो गये; उन्होंने अपने को ठगा और इह लोक, परलोक; दोनों से च्युत हुए। कहने का तात्पर्य यही है कि इन्द्रियजयी होने पर ही चारित्रिक श्रेष्ठता प्राप्त होती है।

भगवान महावीर से पूर्व यह धारणा बन गई थी कि धर्मसाधन तो वृद्धावस्था में करणीय है; किन्तु भगवान महावीर ने कहा कि धर्म के लिए कोई उम्र नहीं होती वह तो बचपन में भी किया जा सकता है, घोर युवावस्था में भी। उन्होंने तीस वर्ष की युवावस्था में दिगम्बर दीक्षा ग्रहण कर अपनी साधना को एक नया आयाम ही नहीं दिया, अपितु आध्यात्मिक क्रान्ति का शंखनाद किया; जिसका चरम और परम लक्ष्य था– स्वयं को जीतो। जो स्वयं को जीतता है वास्तव में वही जिन है। भगवान महावीर ने कहा कि जीतना है तो स्वयं का जीतो, मारना है तो स्वयं के विकारों को मारो। भेद देखने वाला संसारी हे और जो भेद में भी अभेद (आत्मा) को देख लेता है वह मोक्षार्थी है । सबजीवों से ममता तोड़ो और समता जोड़ो। शस्त्रप्रयोग मत करो और जिनवचन रूप शास्त्रों के विरुद्ध आचरण मत करो। भगवान महावीर ने काम जीता, कषायें जीती, इन्द्रियों को जीता और विषमता के शमन हेतु समता को अपनाया और मोक्ष पाया। हमारा यही लक्ष्य होना चाहिए।

गांधी जी ने इस युग में भगवान महावीर के दर्शन का आत्मसात् किया था। उन्होंने लिखा कि " जो आदमी स्वयं शुद्ध है, किसी से द्वेष नहीं करता, किसी से अनुचित लाभ नहीं उठाता, सदा पवित्र मन रखकर व्यवहार करता है, वह आदमी धार्मिक है वही सुखी है और वही

पैसे वाला है। मानव जाति की सेवा उसी से बन सकती है। "आज आवश्यकता है भगवान महावीर की , एक प्रेरक आदर्श की; जो बता सके कि चारित्र का मार्ग ही वरेण्य है। मेरी यह पंक्तियां इन्हीं भावनाओं की उद्भावक हैं-

हे वीर प्रभु इस धरा पर आज तुम फिर से पधारो।
हे वीर प्रभु सब काज कर आज मम जीवन निहारो॥
हो गया मानव जो दानव दनुजता उसकी मिटाओ।
सरलता से, नेह-धन से सहजता उसकी बचाओ॥
हे वीर तुम आनन्द की मूर्ति निर्वैर हो।
गुणों के मीर हो शान्ति से अमीर हो॥
एक से नेक हो अनेकान्त से अनेक हो।
शम, दम, दया, त्याग के स्वयं संन्देश हो।

भगवान महावीर ने कहा कि आशा-तृष्णा के ताप से तप्त मन हितकर नहीं। अर्थ अनर्थ न कर दे इसलिए अर्थ की अनर्थता का चिन्तन करो- "अर्थमनर्थं भावय नित्यं।" गृहस्थ अर्थ का उपार्जन करे किन्तु वह न्याय की तुला पर खरा उतरना चाहिए। अन्याय, अनीति से कमाया गया धन विसंवाद कराता है, संघर्ष के लिए प्रेरित करता है अतः वह मल की तरह त्याज्य है। गृहस्थ के लिए धन साधन बने, साध्य नहीं और साधु के लिए धन सर्वथा त्याज्य है। यहाँ तक कि वह उसके प्रति ममत्व भी न रखे तभी समत्व की साधना पूरी होगी। इसीलिए भगवान की वाणी अमृत रूप बनी, भगवान का चारित्र सम्यक् चारित्र बना। उनके चारित्र से संसार जान सका कि जोड़ने में सुख नहीं; सुख तो त्यागने में है। हमारी तो भावना है कि हम भगवान महावीर के जीवनादर्शों को अपनायें ताकि शान्ति मिले, समता हो और संघर्षों से छुटकारा मिलें। वीतरागता का उनका आदर्श प्रयोग की कसौटी पर कसा हुआ खरा है जिसके प्राप्त होने पर न संसार बुरा है, न व्यक्ति। बल्कि स्वयं अपनी आत्मा प्रिय लगने लगती है और लक्ष्य बन जाता है आत्मा को जीतो, आत्मा को पाओ।

परिग्रह–

'वृहत् हिन्दी कोश' के अनुसार 'परिग्रह शब्द का अर्थ लेना, ग्रहण करना, चारों ओर से घेरना, आवेष्टित करना, धारण करना, धन आदि का संचय, किसी दी हुई वस्तु को ग्रहण करना, चारों ओर से घेरना, पत्नी, स्त्री, पति, घर परिवार, अनुचर, सेना का पिछला भाग, राहु द्वारा सूर्य या चन्द्रमा का ग्रसा जाना, शपथ, कसम, आधार, जायदाद, स्वीकृति, मंजूरी, दावा, स्वागत-सत्कार, आतिथ्य, सत्कार करने वाला, आदर, सहायता, दमन, दंड, राज्य, सम्बन्ध, योग, संकलन, शाप बताया गया है।[३] इसमें एक ओर जहाँ परिग्रह को संचय के अर्थ में लिया है वहीं शाप के अर्थ में भी रखा है जिससे परिग्रह की शोचनीय दशा प्रकट होती है। जैनचार्यों की धारणा में परिग्रह 'परितो गृह्णाति आत्मानमिति परिग्रहः' अर्थात् जो सब ओर से जकड़े; वह परिग्रह है। आचार्य उमास्वामी के अनुसार 'मूर्च्छा परिग्रह है'-"मूर्च्छा परिग्रहः।"[४] इस सूत्र की टीका में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने लिखा है कि "गाय, भैंस, मणि और मोती आदि चेतन, अचेतन बाह्य उपधि का तथा रागादिरूप आभ्यन्तर उपधि का संरक्षण, अर्जन और संस्कार आदि रूप व्यापार ही मूर्छा है।[५] आचार्य पूज्यपाद की ही दृष्टि में "ममेदंबुद्धिलक्षणः परिग्रहः" अर्थात् यह वस्तु मेरी है; इस प्रकार का संकल्प रखना परिग्रह है।[६] राजवार्तिक के अनुसार- " लोभकषाय के उदय से विषयों के संग को परिग्रह कहते हैं।[७] "ममेदं वस्तु अहमस्य स्वामीत्यात्मीयाभिमानः संकल्पः परिग्रह इत्युच्यते" अर्थात् यह मेरा है, मैं इसका स्वामी हूँ इस प्रकार का ममत्व परिणाम परिग्रह है।[८]

धवला के अनुसार- परिगृह्यत इति परिग्रह बाह्यार्थः क्षेत्रादिः, परिगृह्यते अनेनेति च परिग्रहः बाह्यार्थ ग्रहणहेतुरत्र परिणामः।[९] परिगृह्यते इति परिग्रहः" अर्थात् जो ग्रहण किया जाता है वह परिग्रह है; इस निरुक्ति के अनुसार क्षेत्रादि रूप बाह्य पदार्थ परिग्रह कहा जाता है तथा "परिगृह्यते अनेनेति परिग्रहः" जिसके द्वारा ग्रहण किया जाता है वह

परिग्रह है; इस निरुक्ति के अनुसार बाह्य पदार्थ के ग्रहण में कारण भूत परिणाम परिग्रह कहा जाता है।[९]

समयसार आत्मख्याति के अनुसार 'इच्छा परिग्रहः' अर्थात् इच्छा ही परिग्रह है।[११]

परिग्रह के भेद–

परिग्रह के दो भेद हैं -१) बाह्य,२) अन्तरंग। बाह्य परिग्रह में भूमि, मकान, स्वर्ण, रजत, धन-धान्य आदि अचेतन तथा नौकर-चाकर, पशु स्त्री आदि सचेतन पदार्थ शामिल किये जाते है।[१२] तथा अन्तरङ्ग परिग्रह में क्रोध, मान, माया, लोभ और हास्य, रति, अरति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद और मिथ्यात्वादि भावनायें व्यक्ति के अन्तरंग परिग्रह है।[१२]

परिग्रह पाप है–

जैनागम में पाँच पाप माने गये हैं– हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह भी पाप है। परिग्रह बनाम मूर्च्छा पाँचों प्रकार के पापों का मूल स्रोत है। जो परिग्रही है तथा परिग्रह के अर्जन, सम्बर्द्धन एवं संरक्षण के प्रति सचेत है वह हिंसा, झूठ, चोरी व अब्रह्म से बच नहीं सकता। 'सर्वार्थ सिद्धि' के अनुसार- 'सब दोष परिग्रह मूलक हैं। 'यह मेरा है' इस प्रकार के संकल्प के होने पर संरक्षण आदि रूप भाव होते हैं और इसमें हिंसा अवश्यंभाविनी है। इसके लिए असत्य बोलता है, चोरी करता है, मैथुन कर्म में प्रवृ त होता है, नरकादि में जितने दुःख हैं वे सब इससे उत्पन्न होते हैं।[१४]

आ. गुणभद्र की दृष्टि में -"सज्जनों की भी सम्पत्ति शुद्ध न्यायोपार्जित धन से नहीं बढ़ती। क्या कभी समुद्र को स्वच्छ जल से परिपूर्ण देखा जाता है?"

शुद्धैधनैर्विवर्धन्ते सतामपि न सम्पदः।
न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः कदाचिदपि सिन्धवः॥[१५]

आचार्य अमृतचन्द्र स्वामी के अनुसार परिग्रह में हिंसा होती है–

हिंसा पर्य्यात्वसिद्धा हिंसान्तरंगसङ्गेषु।
बहिरङ्गेषु तु नियतं प्रयातु मूर्च्छैव हिंसात्वम्॥[१६]

अर्थात् हिंसा के पर्यायरूप होने के कारण अन्तरंग परिग्रह में हिंसा स्वयं सिद्ध है और बहिरंग परिग्रह में ममत्व परिणाम ही हिंसा भाव को निश्चय से प्राप्त होते हैं।

परिग्रह त्याग की प्रेरणा–

जैनाचार्यों ने परिग्रह त्याग हेतु इसे अणुव्रत, प्रतिमा एवं महाव्रत के अन्तर्गत रखा है। अणुव्रत एवं प्रतिमा सद्गृहस्थ श्रावक एवं परिग्रह-त्याग-महाव्रत मुनि धारण करते हैं।

परिग्रह परिमाण–

परिग्रह दुःख मूलक होता है। 'ज्ञानार्णव' में कहा गया है कि–

संगात्कामस्ततः क्रोधस्तस्माद्धिंसा तयाशुभम्।
तेन श्वाभ्री गतिस्तस्यां दुःखं वाचामगोचरम्॥[१७]

अर्थात् परिग्रह से काम होता है, काम से क्रोध, क्रोध से हिंसा, हिंसा से पाप और पाप से नरकगति होती है। उस नरकगति में वचनों के अगोचर अति दुःख होता है। इस प्रकार दुःख का मूल परिग्रह है।

दुःख रूप परिग्रह से बचने के लिए जैनाचार्यों ने परिग्रह के परिमाण (सीमित) करने को अणुव्रत के रूप में मान्यता दी है।

'सर्वार्थसिद्धि' के अनुसार- 'धनधान्यक्षेत्रादीनामिच्छावशात् कृत

परिच्छेदो गृहीति पञ्चमणुव्रतम्''[१८] अर्थात् गृहस्थ, धन, धान्य और क्षेत्र आदि को स्वेच्छा से परिमाण कर लेता है इसलिए उसके पॉचवां परिग्रह परिमाण अणुव्रत होता है। 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' के अनुसार–

जो लोहं णिहणित्ता संतोस - रसायणेण संतुट्ठो।
णिहणदि तिण्हादुट्ठा मण्णंतो विणस्सरं सव्वं॥
जो परिमाणं कुव्वदि धण-धण्ण-खित्तमाईणं।
उवयोगं जाणित्ता अणुव्वदं पंचमं तस्स॥[२१]

अर्थात् जो लोभ कषाय को कम करके, सन्तोष रूपी रसायन से सन्तुष्ट होता हुआ, सबको विनश्वर जानकर धन, धान्य, सुवर्ण और क्षेत्र वगैरह का परिमाण करता है उसके पॉचवां (परिग्रह परिमाण) अणुव्रत है।

'रत्नकरण्ड श्रावणकाचार' में आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है कि–

धनधान्यादि ग्रन्थं परिमाय ततोऽधिकेषु निःस्पृहता।
परिमितपरिग्रहः स्यादिच्छापरिमाणनामापि॥[२०]

अर्थात् धन-धान्यादि दश प्रकार के परिग्रह को परिमित अर्थात् उसका परिमाण करके कि 'इतना रखेंगे' उससे अधिक में इच्छा नहीं रखना सो परिग्रह परिमाणव्रत है तथा यही इच्छा परिमाण वाला व्रत भी कहा जाता है।

इस प्रकार संचित परिग्रह को निरन्तर कम-कम करते जाने का संकल्प तथा संकल्पानुसार कार्य परिग्रहपरिमाण कहा जाता है।

परिग्रह परिमाण आवश्यक–

परिग्रह संचय एक मानवीय मानसिक विकृति है जिसके कारण व्यक्ति जीवन भर दुख उठाता है तथा पाँचों पापों के कार्यो में संलग्न होता है। यहाँ तक कि परिग्रही की धारणा ही बन जाती है कि–

राम की चिड़िया, राम का खेत।
खा मेरी चिड़िया, भर ले पेट॥

संग्रह की प्रवृति समाज में उथल-पुथल मचा देती है जिसमें अभाव का रूप क्रान्ति का रूप धारण कर लेता है। यहाँ तक कि परिग्रही व्यक्ति विक्षिप्त जैसा हो जाता है, जिसे हर पल परिग्रही की ही धुन सवार रहती है। नीति भी कहती है कि–

कनक-कनक तैं सौ गुनी, मादकता अधिकाय।
या खाये बौरात जग, बा पाये बौराय॥

आचार्य उमास्वामी ने मनुष्यगति के आस्रव में अल्पआरम्भ और परिग्रह का भाव प्रमुख माना है– 'अल्पारम्भपरिग्रहत्वं मानुषस्य।'[२१] वहीं बहुत आरम्भ और बहुत परिग्रह वाले का भाव नरकायु का आस्रव है- "बह्वारम्भपरिग्रहत्वं नारकस्यायुषः।"[२२] अब यह हमें विचार करना है कि हम परिग्रह का परिमाण करके मनुष्य बनना चाहते हैं या बहुत अधिक परिग्रह का संचय करके नरकगति का दुःख भोगना चाहते हैं। कबीर ने इसीलिए कहा कि–

पानी बाढ़ै नाव में, घर में बाढ़ै दाम।
दोनों हाथ उलीचिये, यही सयानो काम॥[२३]

कुछ लोग धर्म, दान, पूजा आदि के लिए धनादि परिग्रह संचय को उचित मानते हैं किन्तु 'क्राइस्ट' का कथन है कि "पैसा बटोरकर दान करना वैसा ही है जैसा कि कीचड़ लगाकर धोना।" संस्कृत में सूक्ति है कि- "प्रक्षालानाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्" अर्थात् कीचड़ लगने पर धोने से अच्छा है कि उसे दूर से ही त्याग दें। उसी प्रकार परिग्रह संचय कर दान करने की अपेक्षा परिग्रह त्याग ही उचित है। गृहस्थ को तो अपनी आवश्यकता के अनुरूप परिग्रह परिमाण ही करना चाहिये।

परिग्रह संचय का ही यह दुष्परिणाम है कि एक ओर जहाँ लोग भूख से मर रहे हैं वहीं दूसरी ओर धनाढ्य वर्ग गरिष्ठ भोजन करके

अपना स्वास्थ्य बिगाड़ रहे हैं। कुछ लोगों के 'लक्झरी' साधनों के लिए 'नेसेसरीज' वस्तुओं से भी लोग वंचित किये जा रहे हें। तात्कालिक लाभ भले ही अनैतिक तरीकों से प्राप्त हो; उसे प्राप्त करने के लिए जी तोड़ मेहनत कर रहे हैं। ऐसे में यदि कोई समुचित मार्ग बचता है तो वह परिग्रहपरिमाण ही है। कुंवर बैचेन ने ठीक ही कहा है–

तुम्हारे दिल की चुभन भी जरूर कम होगी।
किसी के पाँव से काँटा निकालकर देखो॥

एक बार महात्मा गांधी से किसी मारवाड़ी सेठ ने पूछा कि– गांधी जी, आप सबसे टोपी लगाने को कहते हैं; यहाँ तक की आपके अत्यन्त आग्रह के कारण टोपी के साथ आपका नाम जुड़कर 'गांधी टोपी' हो गया है, लेकिन आप स्वयं टोपी क्यों नहीं लगाते?

यह प्रश्न सुनकर गांधी जी ने उनसे पूछा कि 'आपने यह जो पगड़ी बॉध रखी है इसमें कितनी टोपियां बन सकती हैं?, मारवाड़ी सेठ ने कहा की– "बीस"

तब गांधी जी ने कहा कि "जब तुम्हारे जैसा एक आदमी बीस टोपियों का कपड़ा अपने सिर पर बॉध लेता है तो मुझ जैसे उन्नीस आदमियों को नंगे सिर रहना पड़ता है।" यह उत्तर सुनकर वह सेठ निरुत्तर हो गये।

वास्तव मे परिग्रह परिमाण ही गृहस्थ को सामाजिक बनाता है। परिग्रह की दीवारें हमारे प्रति घृणा एवं विद्वेष को जन्म देती हैं। अली अहमद जलीली का एक शेर है कि–

नफरतों ने हर तरफ से घेर रखा है हमें,
जब ये दीवारें गिरेंगी रास्ता हो जायेगा॥

परिग्रह परिमाण के लिए समाजवाद की अवधारणा सामने आयी। समाजवाद की अवधारणा अगर अंश है तो परिग्रह परिमाण उस अंश

को पाने की दिशा में उठाया गया महत्वपूर्ण कदम है जो क्रमशः परिमित होते हुए जब अपरिग्रह की स्थिति में आता है तो पूर्ण एवं सफल लक्ष्य बन जाता है। यहाँ अर्थ की अनर्थता की नित्य भावना करने वाला प्राणी धन को स्वपरोपकार का निमित्त मात्र मानता है। सर्वप्रथम अपनी अभिलाषाओं को सन्तोष में बदलकर वह दानशीलता की ओर उन्मुख होता है। परिग्रह का परिमाण करता है। और आत्मविकास करता हुआ परिमाण किये परिग्रह में भी ममत्व छोड़कर पूर्ण अपरिग्रही बन जाता है।[२४]

संसार में शान्ति परिग्रह परिमाण से ही संभव है। किन्तु स्वार्थ और संचय की प्रवृत्ति ने समाजवाद को स्थापित ही नहीं होने दिया। आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने स्वार्थ की इस प्रवृत्ति का इस रूप में उल्लेख किया है–

स्वागत मेरा हो
मनमोहक विलासितायें
मुझे मिलें अच्छी वस्तुएं
ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी
फिल भला बता दो हमें
आस्था कहाँ है समाजवाद में तुम्हारी?
सबसे आगे मैं
समाज बाद में।"[25]

परिग्रह परिमाण करके शेष सम्पदा के वितरण के विषय में आचार्य श्री की धारणा है कि–

"अब धनसंग्रह नहीं
जन संग्रह करो
और
लोभ के वशीभूत हो

समुचित वितरण करो
अन्यथा
धनहीनों में
चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं
चोरी मत कर, चोरी मत करो
यह कहना केवल
धर्म का नाटक है
उपरिल सभ्यता उपचार
चोर इतने पापी नहीं होते
जितने कि चोरों को पैदा करने वाले
तुम स्वयं चोर हो
चोरों को पालते हो
और चोरों के जनक भी।"[२६]

शेक्सपियर ने लिखा है कि– Gold is worse pain on the man in souls doing more murders in this world than any mortal drug.

अर्थात् सोना (स्वर्ण) मनुष्य की आत्मा को अत्यधिक रूप से दुखी करता है। किसी मरणदायक औषधि की अपेक्षा सोने के कारण संसार में अधिक हत्यायें हुई हैं।

अपने यहाँ कहावत है कि 'बुभुक्षितः: किन्नु करोपि पापं। अर्थात् भूखा मनुष्य क्या पाप नहीं करता? मुट्ठी भर लोगों के हाथ में पूँजी व अन्य सामग्री संगृहीत होकर जनता को त्रस्त करती है; जिसका परिणाम बड़ा भयंकर होता है। भूखा व्यक्ति सत्य-असत्य और हिंसा-अहिसा के भेद को भूल जाता है। एक कवि ने लिखा है कि–

भूखे फकीर ने तड़पकर कहा-
सत्य की परिभाषा बहुत छोटी है
केवल एक शब्द रोटी है।

परिग्रह परिमाण अपने लिए ही नहीं बल्कि प्राणी मात्र के उपकार के लिए आवश्यक है। आज तो लोग परिग्रह संचय के लिए न्याय-अन्याय का भेद छोड़कर अन्य जनों के अधिकारों को दबाकर भी शोषण करते हैं। बिडम्बना तो यह भी है कि परिग्रह को पाप बताये जाने के बाद भी उसके संचयी को पुण्यात्मा कहकर अभिनन्दनीय बना दिया गया है। यहाँ तक की जिन भगवान ने सम्पूर्ण परिग्रह का त्याग कर दिया उन पर भी सोने-चांदी के छत्र चढ़ाये जाते हैं और उसे वैभव के रूप में महिमामंडित किया जाता है।

परिग्रह स्वयं में एक रोग है यह जिसे लग जाता है वह दिनरात इसी में लगा रहता है; किन्तु जो निष्परिग्रही होता है वह कभी बैचेन नहीं रहता। जिसके पास परिमित परिग्रह है वह चैन से रहता है, चैन से खाता है और चैन से सोता है तथा अणुव्रत रूप में पालन करे तो कर्मो की निर्जरा भी करता है अतः परिग्रह का परिग्रह का परिमाण कर सुखी होना ही इष्ट है, उपादेय है।

सन्दर्भ–

1. आचार्य ज्ञानसागरः वीरोदय महाकाव्य, 1/38-39, 2. आचार्य शुभचन्द्र : ज्ञानार्णव 3. वृहत् हिन्दी कोश, पृ. 650, 4. आ. उमास्वामी-तत्त्वार्थसूत्र 7/17, 5. आ. पूज्यपाद : सर्वार्थसिद्धि 7/17/695, 6. वही, 6/15/638, 7. राजवार्तिक 4/21/3/236, 8. वही 6/15/3/525, 9. धवला 12/4,2,8,6/282/9, 10. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 3/24, 11. समयसार-आत्मख्याति /210, 12. आ. अमृतचंद्रः पुरुषार्थ सिद्‌ध्युपाय,117, 13. वही, 116, 14. सर्वार्थसिद्धि 7/17/685, 15. आ. गुणभद्रः, 16. पुरुषार्थसिद्धयुपाय, 119, 17. ज्ञानार्णव, 16/12/178, 18. सर्वार्थसिद्धि 7/20/701, 19. कार्तिकेयानुप्रेक्षा, मूल 331-340, 20. रत्नकरण्डश्रावकाचार, 31, 21. तत्त्वार्थसूत्र 6/17, 22. वही, 6/14, 23. स्वयं का लेख- 'सामाजिक बनने की प्रथम शर्त अपरिग्रह भावना' जैनगजट वर्ष 100, अंक- 30 में प्रकाशित।, 24. मूकमाटी, 467-468

सम्पादक-पार्श्वज्योति
एल 65, न्यू इन्दिरा नगर
बुरहानपुर (म.प्र.)

समाधिमरण में शुद्धि व विवेक विवेचन

प्राचार्य (पं.) निहालचंद जैन.

"सम्यक्प्रकारेणकायकषाय कृशीकरणं सल्लेखना" अर्थात् भली प्रकार विवेकपूर्वक काय और कषाय को कृश करने को सल्लेखना कहते हैं।

सल्लेखनां करष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम्।
अवश्यमित्यदः शीलं सन्निदध्यात्सदा हृदि॥
सहगामि कृतं तेन धर्मसर्वस्वमात्मनः।
समाधिमरणं येन भवविध्वंसि साधितम्॥ 57-58॥

सागारधर्मामृत पृष्ठ-76

मरण समय में अर्थात् तद्भवमरण के अन्त में होने वाली सल्लेखना को मारणान्तिकी- सल्लेखना कहते हैं। मरण दो प्रकार का होता है- प्रतिक्षण मरण और तद्भवमरण। सल्लेखना में जो मरण होता है, वह तद्भवमरण होता है। गुणव्रतों और शिक्षाव्रतों की तरह सल्लेखना को भी शील माना गया है। जिसने संसार परिभ्रमण नाशक समाधिमरण साध लिया उसने अपने धर्म के सर्वस्व रत्नमय को परभव के लिए सहगामी बना लिया है। जो समाधिमरण को अंगीकार करता है वह क्षपक कहलाता है तथा जो आचार्य या मुनि समाधिकर्त्ता (समाधि कराने वाला) होता है वह निर्यापकाचार्य या निर्यापक मुनि कहलाता है। बारह व्रत पालन करने वाले श्रावक को अथवा मुनि को जीवन के अन्त में धीर वीर चित्तपूर्वक सल्लेखना को धारण करना चाहिए।

महान् उपसर्ग आने पर, दुर्भिक्ष पड़ने पर ठीक न होने वाला भंयकर रोग से ग्रसित होने पर और बुढ़ापा आदि के आ जाने पर सन्त जनों को सल्लेखना धारण करना चाहिए। जो सज्जन पुरुष उत्तम प्रकार

से सल्लेखना विधि को करते हैं उन्हें दान, पूजा, तप, और शील का फल प्राप्त होता है। श्री जिनेन्द्र देव के धर्म के जानकार सन्त जन, मन वचन, काय की शुद्धि से सर्व परिग्रह को छोड़कर तथा रागन्द्वेषादि भावों को त्याग कर त्रियोग से क्षमापूर्वक अमृत वचनों को कहकर सभी को सन्तुष्ट करे तथा जीवन और मरण की सर्व चिन्ता को छोड़कर कर्म करने वाला विरक्त साधु सब सुख शीलता को मन वचन काय से त्याग कर जब भावों में आरोहण करता है तब वह इस प्रकार विचार करता है-

सल्लेहणं करेंतो सव्वं सुहशीलयं पयहिदूण।
भाव सिदि मारू हित्ता विहरेज्ज सरीर णिव्वण्णो॥ 174 म. आ.

अर्थात् इस सुलभ असार अपवित्र, कृतघ्न भाररूप रोगों का घर और जन्म मरण से युक्त दुःखदायी शरीर से क्या लाभ है? इस प्रकार शरीर में निस्पृहभाव रखकर साधु समाधिमरण धारण करता है। वह बैठना सोना भोजन आदि सुख भावना को छोड़कर श्रद्धानादि परिणामों का आश्रय लेता है। जिस प्रकार योग्य शिक्षा को प्राप्त अश्व भ्रमण लंघन आदि के कष्ट सहने का अभ्यासी युद्धभूमि में सवारी ले जाने का कार्य करता है उसी प्रकार पूर्व में तप करने वाला, विषय-सुख से विमुख जीव मरते समय समाधि का इच्छुक हुआ निश्चय से परीषह को सहनेवाला होता है।

पुव्वं कारिदजोगो, समाधिकामो तहा मरणकाले।
होदि हु परीसहो, विसयसुह परम्मुहो जीवो॥ म.आ. 195

सल्लेखना दो प्रकार की होती है, (i) आभ्यन्तर (ii) बाह्य ।

बाह्य सल्लेखना शरीर के विषय में होती है। बल को बढ़ाने वाले सभी रसों को त्याग कर प्राप्त हुए आहार से कोई एक विशेष नियम लेकर शरीर को क्रम से कृश करता है। शरीर को कृश करने के लिए वह छह प्रकार के बाह्य तपों को करता है। अनशन अवमौदर्य रसों का

त्याग वृत्तिपरिसंख्यान कायक्लेश और विविक्तशय्यासन ये छह बाह्य तप है।[2] अनशन दो प्रकार का होता है– (i) अद्धानशन और (ii) सर्वानशन। ग्रहण और प्रतिसेवन काल में अद्धानशन होता है, जबकि मरण समय में सर्वानशन होता है। पेट भर खाने का त्याग तप में सहायक होने से यह अवमौदर्य तप कहा जाता है। मुनि पुरुष पेट भर 32 ग्रास प्रमाण और आर्यिका स्त्री के कुक्षि पूरक आहार का परिमाण 28 ग्रास होता है। इससे कम ग्रास से लेकर एक ग्रास प्रमाण का आहार अवमौदर्य है। सल्लेखना के समय दूध, दही, घी, तेल, गुड़ लवण, पत्रशाक, सूप घृतपूर पुवे आदि सब का या एक एक का त्याग रस परित्याग होता है। शंख के आवर्तो के समान या पक्षियों की पंक्ति जैसे गोचरी भिक्षा के अनुसार भ्रमण करते हुए, भिक्षा मिली तो ग्रहण करूँगा ऐसा संकल्प करना वृत्तिपरिसंख्यान है। सुखासन पूर्वक आहार ग्रहण न करना और आहार के पश्चात् शयन हेतु लेटना नहीं तथा आहार के पश्चात् निषद्या परिषह पूर्वक तपती शिला या सर्दी में बाहर एकान्त में सामायिक में बैठना कालक्लेश है तथा जिस वसति में मनोज्ञ या अमनोज्ञ शब्द, रूप गंध स्पर्श के द्वारा अशुभ परिणाम न होते हों अथवा स्वाध्याय व ध्यान में व्याघात नहीं होता हो, वह विविक्त वसति है। इसके साथ ही उद्‌गम उत्पादन और एषणा दोषों से रहित, जीवों की उत्पत्ति से रहित, शय्या रहित, दुःप्रमार्जन आदि संस्कार से रहित वसति में निवास करना, शून्य घर पहाड़ की गुफा, वृक्ष का मूल आने वालों के लिए बनाया गया घर, देवकुल, शिक्षालय, आराम घर आदि विविक्त वसतियाँ होती है जिनमें समाधिमरण लेने वाला क्षपक अपनी साधना को सम्पन्न करता है। कायक्लेश के अन्तर्गत रात्रि में शयन नहीं करना, स्नान नहीं करना, दाँतों को वृक्ष की दातौन से सफाई नहीं करना, शीतकाल तथा गर्मी में आतपन योग करना आदि भी आता है।

बाह्यतप से सब सुख-शीलता छूट जाती है। सुखशीलता राग उत्पन्न करती है। राग, राग को बढ़ाता है जो कर्मबन्ध का कारण होने

से दोषों को लाता है।[3] शरीर दुःख का कारण है। उसको छोड़ने का उपाय है– इसको क्रम से कृश करना। बाह्य तप से शरीर कृश होता है। बाह्य तप से शरीर रस और सुख में अप्रतिबद्ध यानी अनासक्त होता है। बिना संक्लेश परिणामों के दुःख सहने से कर्मो की निर्जरा होती है और ध्यान में (एकाग्र) होता है।[4] बाह्य तप से आत्मा, कुल, गण, शिष्य परम्परा शोभित होती है। आलस्य छूट जाता है शरीर में हल्कापन आता है। जिससे स्वाध्याय व ध्यान बिना कष्ट के हो जाते हैं। इस प्रकार उद्गम, उत्पादन और एषणा दोष से रहित भोजन और पान से तथा परिमित, लघु, रस रहित, रूक्ष भोजन पान से यतिगण बाह्य तप की साधना करते हैं। बाह्य तप से मरण काल में जो सर्व आहार का त्याग करना होता है, उसका अभ्यास हाता है। अनशन आदि तप से निद्रा जय होती है, ध्यान दृढ़ होता है, असंयम करने वाले मन का घात होता है जिससे स्वाध्याय तप में विघ्न नहीं होता है। अधिक भोजन करने वाला– स्वाध्याय कैसे कर सकता है? सुख में राग को त्यागना और भूख प्यास के कष्ट में संक्लेश न होने देना तथा क्रम से आहार को कम करते हुए शरीर को कृश करना तथा वृत्तिपरिसंख्यान के द्वारा आहार को संकुचित करते हुए सल्लेखना को आगे बढ़ाता है।[5]

तत्वार्थसूत्र के अनुसार– ''मारणांतिकीं सल्लेखना जोषिता।

अर्थात् व्रती मुनि। या गृहस्थ मरण के समय होने वाली सल्लेखना को प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। कषाय– आभ्यन्तर सल्लेखना है। और काय बाह्य सल्लेखना है।

शरीर का साधन भोजन है जिसे क्रमशः घटाने से शरीर कृश होता है तथा कषाय के कारणों से बचने से कषाय घटती है। शरीर सुखा डाला और क्रोधादि कषायें नहीं घटी, तो शरीर का शोषण व्यर्थ है। सर्वार्थसिद्धि ग्रन्थ में एक प्रतीक उदाहरण दिया गया है– यदि व्यापारी के किसी कारण वश व्यापार केन्द्र में आग लग जाये तो पहिले उसे बुझाकर वह व्यापार केन्द्र के भवन की रक्षा करता है, किन्तु यदि उसका

बचाना शक्य न हो तो उसमें भरे हुए माल को बचाने का प्रयत्न करता है। इसी प्रकार धर्म रक्षा के लिए धर्म का साधन शरीर है, उसे पहिले बचाना चाहिए। परन्तु यदि उसका बच पाना सम्भव नहीं दिखे तो धर्म की रक्षा का प्रयत्न किया जाना चाहिए।

जीवन में जन्म जितना सत्य है मृत्यु उतनी ही अपरिहार्य है। परन्तु जीवन मोह के कारण मनुष्य इस सत्य को भुला देता है। साधु या व्रती श्रावक को जीवन में हर्ष और मृत्यु में खेद नहीं करना चाहिए। जिसकी मृत्यु शानदार होती है उनका जीवन भी शानदार होता है । रोकर या विलाप करते हुए प्राणों का त्याग करना कायरता हे। साहसपूर्वक मृत्यु का अलिंगन करते हुए इसे मंगल महोत्सव के रूप में अपनाना चाहिए। आगम में मरण पॉच प्रकार का कहा गया है–

1. **पण्डित पण्डित मरण–** आयोग केवली या बारहवें गुणस्थानवर्ती क्षीण कषाय वले इस प्रकार का मरण करते है।
2. **पण्डित मरण के 3 भेद होते है–** (i) भक्त प्रतिज्ञा (ii) पादोपगमन मरण और (iii) इंगिनी मरण जो महाव्रत धारी साधु के होता है।
3. **बाल पण्डित मरण–** विरताविरत संयमी जीव का बाल पण्डित मरण होता है।
4. **बाल मरण–** अविरत सम्यक्दृष्टि जीव के बाल मरण होता है।
5. **बाल बाल मरण–** मिथ्यादृष्टि के यह मरण होता है।

पायोपगमणमरणं भत्तपइण्णा य इंगिणी चेव।
तिविहं पण्डितमरणं साहुस्स जहुत्तचारिस्स॥ भ.आ. 28

पण्डित मरण के 3 भेदों में भक्तप्रतिज्ञा मरण में आचरण शील साधु स्वयं अपनी वैय्यावृत्य करता है और दूसरों से भी कराता है। इंगिणीमरण में वह अपनी वैय्यावृत्य स्वयं करता है, परन्तु दूसरों से नहीं कराता है तथा पादोपगमन(प्रायोपगमन) में न स्वयं अपनी सेवा करता

है और न दूसरों से कराता है। उत्कृष्ट भक्त प्रत्याख्यान– सल्लेखना का काल पूर्ण बारह वर्ष होता है। नाना कायक्लेशों के साथ वह चार वर्ष बिताता है। फिर दूध आदि रसों को त्यागकर 4 वर्ष तक शरीर को सुखाता है। फिर आचाम्ल और निर्विकृति के द्वारा 2 वर्ष व्यतीत करता है। *आचाम्ल के द्वारा एक वर्ष व्यतीत करता है। शरीर की सल्लेखना* के उपायों में आचाम्ल को उत्कृष्ट माना जाता है इसमें 2 दिन या 3 दिन या 4 दिन या 5 दिन के उपवास के बाद अधिकतर परिमित और लघु आहार लेता है। शेष एक वर्ष को क्षेपक मध्यम तप के द्वारा 6 माह और उत्कृष्ट तप के द्वारा शेष 6 माह बिताता है।[6]

अभ्यन्तर सल्लेखना–

कषायों से रहित होने पर ही परिणाम विशुद्धि होती है। अतः परिणाम विशुद्धि को कषाय सल्लेखना कहा है। जिस मुनि का चित्त क्रोधाग्नि से कलुषित है उसके परिणाम विशुद्ध नहीं होते अतः ऐसा मुनि कषाय-सल्लेखना वाला नहीं होता है, क्योंकि कषाय को कृश करना ही कषाय-सल्लेखना है। क्षपक को चाहिए कि यदि थोड़ी भी कषाय आग की भांति उठे तो बुझा दें । कषाय दूर होते ही राग द्वेष की उत्पत्ति शान्त हो जाती है।[7] जितने भी परिग्रह रागद्वेष को उत्पन्न करते हैं उन परिग्रहों को छोड़ने वाला अपरिग्रही साधु राग व द्वेष को निश्चय से जीतता है।

समाधिमरण में सहायक पाँच शुद्धियाँ व पाँच प्रकार के विवेक

भगवती आराधना में समाधिमरण की सहायक पाँच प्रकार की शुद्धियाँ व पाँच प्रकार के विवेक का कथन किया गया है।[8] उसे प्राप्त किये बिना क्षपक को समाधि प्राप्त नहीं होती है। परम समाधि को पाने के लिए प्रज्ञाशील क्षपक को इन शुद्धियों को निश्चित ही धारण करना चाहिए।

पंचविहं जे सुद्धिं पत्ता णिखिलेण णिच्छिद मदीया।
पंचविहं च विवेगं ते हु समाधिं परमुर्मेंति॥
आलोयणाए सेज्जासंथा रूवहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य सुद्धी खलु पंचहा होई ॥भ.आ. 167-168॥

पाँच प्रकार की शुद्धियाँ इस प्रकार है– (1) आलोचना शुद्धि (2) शय्या शुद्धि (3) संस्तर और परिग्रह की शुद्धि (4) भक्तपान की शुद्धि तथा (5) वैयावृत्य करने वाले की शुद्धि। माया और मृषा से रहित होना आलोचना शुद्धि है। मन में कुटिलता या कपट भाव होना माया है तथा असत्य भाषणको मृषा कहते है। माया कषाय है जोकि आभ्यन्तर परिग्रह है। मृषा भी आभ्यन्तर परिग्रह की श्रेणी में आता है क्योंकि असत्य भाषण के द्वारा कर्म का ग्रहण होता है, अतः यह उपधि हैं।

उद्गम, उत्पादन और एषणा दोषों से रहित होना तथा 'यह मेरा है' ऐसा ममत्व भाव परिग्रह का भाव है। मूर्च्छा परिग्रहः ॥ तत्वार्थसूत्र॥ यह मूर्च्छाभाव नहीं होता वसति और संस्तर रूप परिग्रह की शुद्धि है। संस्तर और वसति का त्याग कर देने से वह उपधित्याग होता है। शिवार्य परिग्रह त्याग का क्रम बतलाते हैं कि–

सव्वत्थ दव्व पज्जय ममत्तसंग विजडो पणिहिदप्पा।
णिप्प णय पेम रागो उवेज्ज सव्वत्थ समभावं॥ भ.आ. 172 ॥

अर्थात् सर्व देश में प्रतिबद्ध आत्मा द्रव्य और पर्यायों से ममता रूपी परिग्रह से रहित होकर प्रणय, प्रेम और राग के नाना विकल्पों को त्याग कर समभाव को धारण करे। जो व्यक्ति वस्तु स्वरूप को जानने में अपने उपयोग को लगा लेता है तथा जो पुद्गल की वैभाविक पर्यायों में ममता नहीं करता तथा पुत्र, स्त्री, मित्रादि में भोग के साधनों में उनकी रूप रस गन्ध और स्पर्श पर्यायों मे प्रणय अर्थात प्रेम व राग के आसक्ति रूप परिणामों से रहित होता है, वही समभाव को प्राप्त हो सकता है। शय्या रहित होना शय्या शुद्धि है।

बाह्य छह प्रकार के तप द्वारा वह भक्तपान की शुद्धि करता है।

वैय्यावृति करने वाले को संयमी एवं वैयावृत्य के क्रम का ज्ञाता होना चाहिए। यही वैयावृत्य करने वाले की शुद्धि है। क्षपक संयमी व्यक्ति से ही वैयावृत्ति करवाता है अन्यथा उसको स्वीकार नहीं करता है।

अन्य पकार से पॉच प्रकार की शुद्धियाँ भगवती आराधना में इस प्रकार कही गयी हैं:-

अहवा दंसण णाण चरित्त सुद्धी य विणय सुद्धी य।
आवास य सुद्धी विय पंच वियप्पा हवदि सुद्धी ॥ 169 ।

(1) दर्शन शुद्धि (2) ज्ञान शुद्धि (3) चरित्र शुद्धि (4) विनय शुद्धि (5) आवश्यक शुद्धि।

(1) सम्यग्दर्शन के आठ अंगों (गुणों) को धारण करना दर्शन शुद्धि है। आठ गुण इस प्रकार है- निःशंकित गुण, निःकांक्षित गुण, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावना। इन गुणों के धारण करने से अशुभ परिणाम रूप परिग्रहों का त्याग हो जाता है क्योंकि इनके विपरीत आठ दोष बताये हैं जो सम्यग्दर्शन को मलिन बना देते हैं ॥ अस्तु, दर्शन-शुद्धिअष्ट अंगों के सहित सम्यग्दर्शन को प्राप्त होना है। दर्शन शुद्धि के लिए सम्यक्त्व के पच्चीस गुण बताये गये हैं जिनसे युक्त होना चाहिए। तीन मूढता, आठ मद, छह अनायतन और शंकादि आठ दोषों इस प्रकार कुल पच्चीस दोषों को टालने से सम्यक्त्व के 25 गुण प्राप्त होते हैं जिनसे दर्शन में शुद्धि आती है।

(i) यथायोग्य समय में पढ़ना- ज्ञान शुद्धि है। उसके होने पर अकाल पठन आदि क्रिया जो ज्ञानावरण के बन्ध का कारण है, उसका त्याग हो जाता है।

(iii) पच्चीस भावनाएँ होना चारित्र शुद्धि है। उसके होने पर मन की चंचलता को न रोकना आदि अशुभ परिणाम आभ्यन्तर परिग्रह है, उनका त्याग हो जाता है।

(iv) इष्ट फल की अपेक्षा न करके विनय करना विनय शुद्धि है। यह विनय भी चार प्रकार की कही गयी है– ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय।

(v) सावद्य योग का त्याग, जिनदेव को गुणों में अनुराग, नमस्कार करने योग्य श्रुत का पालन किये हुए अपराध की निन्दा मन से प्रत्याख्यान करना, शरीर असारता और उसके अनुपकारीपने का चिन्तन करना आदि आवश्यक शुद्धि है। उसके होने से अशुभ योग शरीर से ममता, अपराध के प्रति ग्लानि न होना आदि आभ्यन्तर परिग्रह का निरसन हो जाता है।

पाँच प्रकार के विवेक का विवेचन

इंदिय कसाय उवधीण, भत्तपाणस्स चावि देहस्स।
एस विवेगो भणिदो, पंचविधो दव्वभावगदो॥ भ.आ. 170 ॥

(1) इन्द्रिय विवेक (2) कषाय विवेक (3) उपधि विवेक (4) भक्तपान विवेक और (5) देह विवेक। ये पाँचों द्रव्य और भाव रूप से दो-दो प्रकार से वर्गीकृत किये जा सकते है।

(1) पंच इन्द्रिय के विषयों में राग पूर्वक प्रवृत्त न होना न ही इस प्रकार के वचनों का उच्चारण करना कि मैं अमुक रूप देखता हूँ मैं यह राग सुनता हूँ मैं घने बालों को देखता हूँ या ओष्ठ का रसपान करता हूँ अमुक सुगंधित पुष्प को सूंघता हूँ । यह सब द्रव्य इन्द्रिय विवेक है। रूपादि का ज्ञान होना। उस ज्ञान को भावेन्द्रिय कहते है। उस ज्ञान के होने पर भी रागद्वेष न करना और मानस ज्ञान का परिणत न होना भाव इन्द्रिय विवेक है।

(2) द्रव्य कषाय विवेक के दो भेद हैं-(i) शरीर से और (ii) वचन से।

क्रोध के वशीभूत होकर आँखों का लाल होना, ओठ काटना शस्त्र उठाना आदि काय व्यापार न करना काय द्रव्य कषाय विवेक है। मान माया और लोभ के वशीभूत होकर काय-व्यापार न करना। वचनों से ऐसा नहीं बोलना कि मैं मारता हूँ, ताड़न करता हूँ इत्यादि वचन क्रोध कषाय विवेक है। दूसरे के द्वारा किये गये तिरस्कार अपमान या निंदा आदि के निमित्त से चित्त में मलिनता का न होना भाव से क्रोध विवेक है।

मान कषाय विवेक काय की अपेक्षा सिर को ऊँचा करना, उच्चासन पर बिना कहे बैठना आदि है तथा वचन की अपेक्षा से ऐसा बोलना कि मुझ से बड़ा कौन शास्त्र का ज्ञाता है कौन तपस्वी या चारित्रवान है आदि वचन न बोलना वचन मान कषाय विवेक है। प्रकार इनसे मैं उत्कृष्ट हूँ ऐसा मन में अहंकार करना भाव-मान कषाय हैं और उसका नहीं होना भाव मान कषाय विवेक है। माया जन्य उपदेश का त्याग करना वचन माया विवेक है। लोभ कषाय विवेक भी दो प्रकार होता है। किसी वस्तु को लोभ वश चाहने हेतु हाथ पसारना सिर हिलाकर चाहने के लिए स्वीकृत करना आदि काय-व्यापार न करना काय लोभ विवेक है। यह वस्तु या ग्राम इत्यादि का मैं स्वामी हूँ ऐसा वचन चच्चारण न करना अथवा ने मैं किसी का स्वामी हूँ न कुछ मेरा है ऐसा बोलना वचन लोभ विवेक है। यह मेरा है इस भाव रूप मोह जन्य परिणाम का न होना भाव लोभ विवेक है। प्रकारान्तर से पाँच प्रकार के विवेक इस प्रकार हैं-

अहवा सरीरसेज्जा संथारु वहीण भत्तपाणस्स।
वेज्जावच्चकराण य होइ विवेगो तहा चेव॥ भ.आ. 171 ॥

(1) शरीर या देह विवेक (2) वसति विवेक संस्तर विवेक (3) उपधि विवेक (4) भक्तपान विवेक तथा (5) वैयावृत्य करने वालों का विवेक

द्रव्य और भाव रूप होता है। उक्त में शरीर विवेक, उपधि विवेक और भक्तपान विवेक उभयनिष्ठ हैं।

(1) शरीर विवेक– अपने शरीर में होने वाले उपद्रवों का दूर न करना शरीर विवेक है। शरीर पर उपद्रव करने वाले मनुष्य तिर्यच आदि को हाथ से नहीं रोकना । डांस, मच्छर, विच्छू, कुत्ते आदि को हाथ से या पिच्छी आदि उपकरण या दण्ड से दूर नहीं करता यह काय से शरीर विवेक है। मेरे शरीर को पीड़ा मत दो अथवा मेरी रक्षा करो ऐसा न बोलना अथवा चैतन्य से और सुख दुःख के सम्वेदन से रहित यह शरीर है ऐसा बोलना वचन से शरीर विवेक है।

(2) उपकरणों का त्याग करना काय से उपधि विवेक है तथा उपकरणों का त्याग करता हूँ। ऐसा बोलना वचन से उपधि विवेक है।

(3) भोजन एवं रस जल आदि को न खाना न पीना काय से भक्तपान विवेक है तथा इस प्रकार क भोजन या पान को में ग्रहण नहीं करता हूँ ऐसा कहना वचन भक्तपान विवेक है।

(4) जिसमें पहिले रहे हैं, उस वसति में न रहना काय से वसति विवेक है। इसी प्रकार पूर्व के संस्तर पर न सोना न बैठना काय से संस्तर विवेक है। मैं वसति या संस्तर को त्यागता हूँ यह कहना वचन वसति या वचन संस्तर विवेक है।

(5) वैयावृत्य करने वाले शिष्यों आदि के साथ वास न करना काय से वैयावृत्य करने वालों का विवेक है तथा वचन से ऐसा बोलना कि वैय्यावृत्य मत करो मैंने तुम्हारा त्याग किया वचन से विवेक है। सर्वत्र शरीर में वसति या संस्तर में, भक्तपान आदि में अनुराग भाव से 'यह मेरा है' इस प्रकार का भाव मन में न करना भाव विवेक है। उक्त पाँच प्रकार की शुद्धियों का पालन करने तथा पाँच प्रकार के विवेक को मन वचन एंव काय से संरक्षित करने वाले क्षपक का समाधिमरण समता, निस्पृह और शान्त भावों से सम्पन्न होता है।

सल्लेखना पूर्वक मरण होना बड़े सौभाग्य की बात है। आचार्य कहते हैं

गुरुमूले यतिनिचिते चैत्यसिद्धान्तवार्धि सद्घोषे।
मम भवतु जन्म जन्मनि संन्यसनसमन्वितं मरणं ॥

अर्थात् जहाँ मुनि समुदाय विराजमान हो, जिन प्रतिमा के समीप अथवा सिद्धान्त समुद्र का गम्भीर घोष हो रहा हो उनके चरणमूल में मेरा जन्म जन्म में संन्यास सहित समाधि मरण हो।

क्षपक को सल्लेखना के समय परिणामों की विशुद्धता पर पूर्ण सावधानी रखना चाहिए। किसी प्रकार की लोकवासना कषाय परिणति तपोभंग विकार विचारणाएँ उस समय नहीं आना चाहिए।[9] क्षेपक या समाधिगृहीता को ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि मेरी मृत्यु नहीं हो सकती फिरभय कैसा? मुझे कोई रोग नहीं फिर पीड़ा कैसी? न मैं बालक हूँ न वृद्ध न युवा। यह सब पुद्गलकी पर्यायें हैं।[10] इस प्रकार जन्म, मरण, सुख दुख लाभ-अलाभ संयोग वियोग सभी स्थितियों में समता धारण कर समाधि-मरण होना चाहिए।[11] हे ज्ञान आत्मन्! मृत्यु महोत्सव के उपरिस्थत होने पर तुम किस बात का भय करते हो? यह आत्मा अपने स्वरूप में स्थित रहता हुआ एक देह से दूसरे देह में जाता है इसमें भय क्या? वह विचार करता है कि कर्म रिपु ने आत्मा को देह पिंजरे में बंदी बना रखा है। जिस समय से गर्भ में आया, उसी क्षण से क्षुधा, तृषा, रोग, वियोग, आदि दुखों ने घेर रखा है। इस बन्धनग्रस्त आत्मा को सिवा मृत्यु राजा के और कौन मुक्त कर सकता है?[12] जिन जीवों का चित्त संसार में आसक्तिमान है वे अपने रूप को नहीं जानते अतः उन्हें मृत्यु भयप्रद होती है, किन्तु जो महान आत्माएँ आत्मस्वरूप को जानती हैं और वैराग्यधर हैं उनके लिए समाधिमरण आनन्द प्रद है। तप का ताप भोगना व्रत का पालन करना और श्रुत का पठन करना इन सबका फल समाधिमरण प्राप्त करना है। अस्तु उत्साहपूर्वक इस समाधिमरण में प्रवृत्त होना चाहिए।

सन्दर्भ

1 सल्लेहणा य दुविहा अब्भतरिया य बाहिरा चेव।
अब्भंतरा कसायेसु बाहिरा होदि दु सरीरे ॥ भ.आ. गाथा न. 208 ॥

2 सव्वे रसे पणीदं णिज्जूहित्ता दु पत्तलुक्खेण।
अण्णदरेणुवधाणेण सल्लिहइ य अप्पयं कमसो॥ भ.आ 209 ॥
अणसण अवमोयरियं चाओ य रसाण वृत्तिपरिसंरवा।
कायकिलेखसेज्जा य विवित्त वाहिर तवो सो ॥ भ.आ. 210॥

3. बाहिरवेण होदि हु सव्वा सुह सीलदा परिच्चत्ता।
सल्लिहिंद च सरीर ठविदों अप्पा य संवेगे॥ भ.आ. 239 ॥

4. दुक्खं च भाविदं होदि अप्पडिबद्धो य देह रस सुक्खे।
मुसमूरिया कषाया विसएसु अणायरो होदि ॥ अ भा. 241 ॥

5 अणु पुव्वेणाहारं सवट्टतो य सल्लिहइ देहं।
दिवसुग्गहिएण तवेण चावि सल्लेहणं कुणइ॥
विविहाहिं एसणाहि य अवग्गहेहिं विविहेहि उग्गेहिं।
संजममविरहितो जहाबल सल्लिहइ देहं ॥ अ.भा. 250 ॥

6. गाथा न. 256 भ. आराधना विजयोदयाटीका शिवार्य, 7. गाथा न. 265, 8. गाथा न. 166, 9. पिच्छी कमडलु कृति- आचार्य विद्यानन्द प्रकाशक राजस्थान जैन सभा जयपुर पेज 185 से साभार।

10. न मे मृत्यु. कुतो भीतिर्न मे व्याधिः कुतो व्यथा।
नाहं बालो न वृद्धोऽहं न युवैतानि पुद्गले॥ वही - पेज 185॥

11. जी विय मरणे लाहालाहे संजोग विप्पजोगे य।
बंधुरि सुह दुंक्खादो समदा समायियं णाम॥ वही - पेज185॥

12. आगमादि दुःख सन्तप्तः प्रक्षिप्तो देह पंजरे।
नात्मा विमुच्यतेऽन्येन मृत्युभूमिपतिं बिना॥ श्लोक- 5 समाधि सप्तदशी

शासकीय उच्चतर माध्यमिक शाला
क्र. 3 के सामने,
बीना (म.प्र.)

मध्यलोक में भोगभूमियाँ: एक अनुचिन्तन

– डॉ. जयकुमार जैन

आकाश के जिस भाग में जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य पाये जाते हैं, वह लोक है तथा शेष आकाश अलोक कहलाता है। जगश्रेणी के घन प्रमाण से यह लोक तीन भागों में विभक्त है– अधोलोक, ऊर्ध्वलोक और मध्यलोक। इनमें अधोलोक का आकार वेत्रासन के समान, मध्यलोक का आकार खड़े किये गये आधे मृदंग के ऊर्ध्व भाग के समान तथा ऊर्ध्वलोक का आकार खड़े किये हुए मृदंग के समान है।[1] तीनों लोकों का समन्वित आकार उस मनुष्य सदृश है, जो अपने दोनों पैरों को फैलाकर एवं दोनों हाथों को कटि प्रदेश पर रखकर खड़ा हो। अधोलोक में नरक की सात भूमियाँ एवं उनके नीचे निगोदों की निवासभूत अष्टम भूमि है। ऊर्ध्वलोक सुमेरु पर्वत की चोटी से एक बाल मात्र अन्तर से प्रारंभ होकर लोकशिखर तक है। इनमें सर्वार्थसिद्धि तक स्वर्गलोक तथा सर्वार्थसिद्धि के ध्वजदण्ड से 29 योजन 425 धनुष ऊपर सिद्धलोक है।

मध्यलोक का परिचय

लोकाकाश के ठीक बीच में एक राजू लम्बा, एक राजू चौड़ा एवं एक लाख चालीस योजन ऊँचा मध्य लोक है। यतः इसमें द्वीप एवं समुद्रों की रचना तिरछे रूप में पाई जाती है, अतः इसे तिर्यग्लोक भी कहा जाता है। इसमें जम्बूद्वीप एवं लवण समुद्र से लेकर एक दूसरे को आवेष्टित किये हुए असंख्यात द्वीप एवं समुद्र हैं। इन द्वीप एवं समुद्रों का विस्तार एक दूसरे से दूना–दूना है। जम्बूद्वीप में भरत, हैमवत, हरि, विदेह, रम्यक, हैरण्यवत और ऐरावत नामक सात क्षेत्र पाये जाते हैं। इनका विभाजन पूर्व से पश्चिम तक लम्बायमान हिमवन्, महाहिमवन्,

निषध, नील, रुक्मि एवं शिखरी नामक छः कुलाचल करते हैं।[2] आगमवर्णित सप्त क्षेत्रों के नाम अनादि-निधन एवं शाश्वत हैं।

भूमि का अर्थ

लोक में जीवों के निवास स्थान को भूमि कहा जाता है। मध्यलोक में कर्मभूमि एवं भोगभूमि नामक दो प्रकार की भूमियाँ हैं, जिनमें मनुष्य और तिर्यच निवास करते हैं। जहाँ के निवासी स्वयं कृषि आदि षट्कर्म करके जीवनयापन करते हैं, उसे कर्मभूमि कहा जाता है तथा जहाँ ऐसी व्यवस्था नही है, अपितु कल्पवृक्षजन्य भोगों की प्रधानता है, उसे भोगभूमि कहा जाता है। यद्यपि भोगभूमि पुण्यफल मानी जाती है, तथापि भोगभूमि से मोक्ष पुरुषार्थ की साधना नही होती है।

भोगभूमि का अर्थ

आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने भोगभूमि का निरुक्त्यर्थ करते हुए कहा है–'दशविधकल्पवृक्षकल्पितभोगानुभवनविषयत्वाद् भोगभूमय इति व्यपदिश्यन्ते'[3] अर्थात् दस प्रकार के कल्पवृक्षों से प्राप्त हुए भोगों के उपभोग की मुख्यता होने से भोगभूमियाँ कही जाती हैं। भगवती आराधना की विजयोदया टीका में श्री अपराजितसूरि ने भोगभूमिज मनुष्यों का वर्णन करते हुए लिखा है कि जहाँ मनुष्य मद्य, तूर्य, वस्त्र, आहार, पात्र, आभरण, माला, घर, दीप ओर ज्योति प्रदान करने वाले दस प्रकार के कल्पवृक्षों से जीवनयापन करते हैं, जहाँ पुर, ग्राम आदि नही होते हैं, न राजा होते हैं न कुल, न कर्म एवं न शिल्प होता है। न वर्णव्यवस्था, न आश्रमव्यवस्था होती है। जहाँ स्त्री-पुरुष नीरोग रहकर पति-पत्नी के रूप में रमण करते हुए पूर्व जन्म के पुण्य का फल भोगते हैं और स्वभावतः भद्र होने के कारण मरकर भी स्वर्ग में जाते हैं, वे भोगभूमियाँ कही गई हैं। इनमें जन्म लेने वाले मनुष्य भोगभूमिज कहलाते हैं।

कल्पवृक्ष और उनका कार्य

जो युगलों को अपने-अपने मन से कल्पित वस्तुएँ प्रदान करते हैं, उन्हें कल्पवृक्ष कहते हैं। भोगभूमि में पानांग, तूर्यांग, भूषणांग, वस्त्रांग, भोजनांग, आलयांग, दीपांग, भाजनांग, मालांग और तेजांग नामक कल्पवृक्ष होते हैं। पानांग जाति के कल्पवृक्ष मधुर, सुस्वाद, षट्रसयुक्त, प्रशस्त, अतिशीतल, तुष्टि एवं पुष्टिकारक बत्तीस प्रकार के पेय प्रदान करते हैं। तूर्यांग जाति के कल्पवृक्ष उत्तम वीणा, पटु पटह, मृदंग, झालर, शंख, दुंदुभि, भंभा, भेरी और काहल आदि वादित्र प्रदान करते हैं। भूषणांग जाति के कल्पवृक्ष कंकण, कटिसूत्र, हार, केयूर, मंजीर, कटक, कुण्डल, किरीट ओर मुकुट आदि आभूषण प्रदान करते हैं। वस्त्रांग जाति के कल्पवृक्ष चीनपट, उत्तम क्षौम तथा मन एवं नेत्रों को आनन्ददायक नाना प्रकार के अन्य वस्त्र प्रदान करते हैं। भोजनांग जाति के कल्पवृक्ष सोलह प्रकार के आहार, सोलह प्रकार के व्यंजन, चौदह प्रकार के सूप, एक सौ आठ प्रकार के खाद्य पदार्थ, तीन सौ तिरेसठ प्रकार के स्वाद्य पदार्थ तथा तिरेसठ प्रकार के रस पृथक्-पृथक् प्रदान करते हैं। आलयांग जाति के कल्पवृक्ष स्वस्तिक एवं नन्द्यावर्त आदि सोलह प्रकार के रमणीय भवन प्रदान करते हैं। दीपांग जाति के कल्पवृक्ष प्रासादों में शाखा, प्रवाल, फल, फूल एवं अंकुर आदि के द्वारा जलते हुए दीपकों के सामान प्रकाश प्रदान करते हैं। भाजनांग जाति के कल्पवृक्ष स्वर्ण एवं विविध रत्नों से निर्मित थाल, झारी, कलश, गागर, चामर और आसन आदि प्रदान करते हैं। मालांग जाति के कल्पवृक्ष वल्ली ,तरु, गुच्छ, एवं लताओं से उत्पन्न सोलह हजार प्रकार के फूलों की विविध मालायें प्रदान करते हैं। तेजांग जाति के कल्पवृक्ष दोपहर के करोड़ों सूर्यो की किरणों के समान होकर नक्षत्र, चन्द्र एवं सूर्य आदि की कान्ति का सहंरण करते हैं। **ये कल्पवृक्ष न तो वनस्पतिकायिक हैं और न ही व्यन्तर देव हैं, अपितु पृथिवीकायिक हं तथा जीवों को उनके पुण्य का फल प्रदान करते हैं।**[5] आदिपुराणकार आचार्य जिनसेन

ने पानांग के स्थान पर मद्यांग कल्पवृक्ष का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मद्यांग कल्पवृक्ष सुगन्धित एवं अमृत सदृश मधुर मैरेय, सीधु, अरिष्ट और आसव आदि मद्य प्रदान करते हैं। वास्तव में ये वृक्षों के एक प्रकार के रस हैं, जिन्हें भोगभूमिज मनुष्य सेवन करते हैं। मद्यपायी लोग जिस मद्य का पान करते हैं, वह मद का कारक है तथा अन्तःकरण को मोहित करने वाला है; अतः आर्यजनों द्वारा सर्वथा त्याज्य है।[6]

मध्यलोक में भोगभूमियाँ

मध्यलोक के सात क्षेत्रों में हैमवत और हैरण्यवत दो क्षेत्रों में सदैव दुःषमासुषमा काल रहता है, अतः वहॉ पर जधन्य भोगभूमि रहती है। हरि और रम्यक इन दो क्षेत्रों पर में सदैव सुषमा काल रहता है, अतः वहॉ पर मध्यम भोगभूमि रहती है। निषध एवं नील पर्वतों के अन्तराल में स्थित्त विदेह क्षेत्र के बहुमध्य भाग में एक सुमेरु और चार गजदन्त पर्वत हैं। इनसे रोका गया भूखण्ड देवकुरु और उत्तरकुरु कहलाता है। देवकुरु एवं उत्तरकुरु रूप विदेह क्षेत्र में सदा उत्तम भोगभूमि रहती है। शेष विदेह क्षेत्र में कर्मभूमि है

भरत एवं ऐरावत क्षेत्र कर्मभूमियॉ हैं, किन्तु यहाँ पर उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के रूप में छः समयों की अपेक्षा वृद्धि और ह्रास होता रहता है। उत्सर्पिणी काल में भरत एवं ऐरावत क्षेत्र में रहने वाले मनुष्यों में भोग, उपभोग, अनुभव, सम्पदा, आयु, परिमाण, शरीर की ऊँचाई, विभूति आदि में क्रमशः वृद्धि तथा अवसर्पिणी काल में ह्रास होता जाता है। उत्सर्पिणी काल में दुषमा-दुषमा, दुषमा, दुषमा-सुषमा, सुषमा-दुषमा, सुषमा एवं सुषमा-सुषमा ये षट्काल होते हैं तथा अवसर्पिणी में इसके विपरीत सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा ये छः काल होते हैं। सुषमा-सुषमा नामक उत्सर्पिणी के छठे तथा अवसर्पिणीके पहले काल में उत्तम भोगभूमि की व्यवस्था पाई जाती है। सुषमा नामक उत्सर्पिणी के

पाँचवे तथा अवर्सिणी के दूसरे काल में मध्यम भोगभूमि की व्यवस्था पाई जाती है। सुषमा-दुषमा नामक उत्सर्पिणी के चौथे तथा अवसर्पिणी के तीसरे काल में जघन्य भोगभूमि की व्यवस्था पाई जाती है। शेष कालों में कर्मभूमि रहती है।

उत्सर्पिणी एवं अवसर्पिणी रूप से कालचक्र का घुमाव भरत एवं ऐरावत क्षेत्र के आर्यखण्डों में ही पाया जाता है, अन्यत्र नहीं। विदेह क्षेत्र में देवकुरु एवं उत्तरकुरु में सुषमा-सुषमा काल तथा क्षेत्र में दुषमा-सुषमा काल पाया जाता है।

उत्तम भोग भूमि की अवस्थिति

उत्तम भोगभूमि (सुषमा-सुषमा काल) में भूमि रज, धूम, दाह एवं हिम से रहित, साफ-सुथरी, ओलावृष्टि एवं बिच्छू आदि कीड़ों के उपसर्ग से रहित, निर्मल दर्पण के समान, निंद्य पदार्थो से रहित, तन-मन एवं नयनों को सुखदायक होती है। उस पर चतुरंगल ऊँचे तृण, विचित्र वर्ण वाले वृक्ष, कमलादि से पूर्ण किन्तु मकरादि से रहित पुष्करिणी और वापिकायें होती है। उत्तम भोगभूमि में विकलेन्द्रिय जीव नहीं होते हैं, असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीव भी नहीं होते हैं। स्त्री-पुरुषों में किसी भी प्रकार की वेदना नहीं होती है। वे चौथे दिन बेर के बराबर आहार ग्रहण करते हैं। स्त्री-पुरुषों के शरीर की ऊँचाई छःहजार धनुष, आयु तीन पल्य होती है। प्रत्येक स्त्री-पुरुष के पृष्ठ भाग में 256 हड्डियाँ होती हैं। नर-नारी के अतिरिक्त अन्य कोई परिवार नहीं होता है। एक व्यक्ति में नौ हजार हाथियों के बराबर बल होता है। इनका भोग चक्रवर्ती के भोग से अनन्तगुणा होता है। इनका संहनन वज्रवृषभनाराच और संस्थान समचतुरस्र होता है। स्त्री का मरण जम्हाई से तथा पुरुष का मरण छींक से हो जाता है। इनका कदलीघात मरण नहीं होता है। उत्तम भोगभूमि में वे जीव उत्पन्न होते हैं जो मिथ्यात्वसहित होने पर भी मन्दकषायी, जिनपूजक, संयमी एवं आहारदान आदि गुणों के धारक होते हैं। पूर्व में

मनुष्यायु बाँधकर तीर्थंकर के पादमूल में क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त सम्यग्दृष्टि भी उत्तम भोगभूमि में उत्पन्न हो जाते हैं। पात्र को दान देकर या दानी की अनुमोदना करने वाले तिर्यंच भी भोगभूमि में उत्पन्न होते हैं। कुलिंगसेवी या कुलिंगी भोगभूमि में तिर्यंच होते हैं। भोगभूमि के मनुष्य एवं तिर्यंचों में नौ माह आयु शेष रहने पर ही गर्भधारण होता है। गर्भ से युगल पैदा होते ही तत्काल नर-नारी का मरण हो जाता है। भोगभूमिज मिथ्यावादी मनुष्य एवं तिर्यंच भवनत्रिक में तथा सम्यग्दृष्टि मनुष्य एवं तिर्यंच सौधर्म-ऐशान स्वर्ग पर्यन्त उत्पन्न होते हैं। भोगभूमि में उत्पन्न बालक शय्या पर अंगूठा चूसने, बैठने, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, गुणप्राप्ति, तारुण्यप्राप्ति एवं सम्यक्त्वग्रहण की योग्यता में क्रमशः तीन-तीन दिन लगाते हैं। भोगभूमिज नर-नारी का शरीर धातुमय होता है, फिर भी छिन्न-भिन्न नहीं हो सकता है। उनके शरीर में मल-मूत्र का आस्रव नही होता है। भोगभूमि में व्याघ्रादिक भी कल्पवृक्षों के मधुर फल ही भोगते हैं।

मध्यम भोगभूमि की अवस्थिति

मध्यम भोगभूमि (सुषमा काल) में मनुष्यों के शरीर की ऊँचाई चार सौ धनुष, आयु दो पल्य होती है। इनके पृष्ठभाग में एक सौ अट्ठाईस हड्डियाँ होती हैं। वे तीसरे दिन बहेड़ा फल बराबर अमृतमय आहार करते हैं। उत्पन्न हुए बालक को शय्या पर अँगूठा चूसने, बैठने, अस्थिर गमन, गुणप्राप्ति, तारुण्यप्राप्ति एवं सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता में क्रमशः पाँच-पाँच दिन लग जाते हैं। शेष सब स्थिति उत्तम भोगभूमि की ही तरह होती हैं।[10]

जघन्य भोगभूमि की अवस्थिति

जघन्य भोगभूमि की अवस्थिति (सुषमा दुषमा काल) में मनुष्यों की ऊँचाई दो हजार धनुष, आयु एक पल्य होती है। यहाँ के स्त्री-पुरूषों

के पृष्ठ भाग में चौसठ हड्डियाँ होती हैं। समचतुरस्रसंस्थानधारी ये एक दिन के अन्तराल से ऑवले बराबर अमृतमय आहार लेते हैं। उत्पन्न हुए बालक को शय्या पर अंगूठा चूसने, बैठने, अस्थिर गमन, स्थिर गमन, गुणप्राप्ति, तारुण्यप्राप्ति एवं सम्यक्त्व ग्रहण की योग्यता में क्रमशः सात-सात दिन लग जाते हैं। शेष कथन उत्तम एवं मध्यम भोगभूमि की तरह ही है।[11] भोगभूमि में मरण होने पर मनुष्य का शरीर कर्पूरवत् उड़ जाता हैं।

भोगभूमि में गुणस्थान आदि

भोगभूमिज जीवों में अपर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व एवं सासादन दो गुणस्थान, पर्याप्त अवस्था में मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र एवं अविरतसम्यग्दृष्टि- चार गुणस्थान होते हैं। उनके पर्याप्त अवस्था में दस प्राण - पॉच इन्द्रियाँ, मन वचन, काय, श्वासोच्छ्वास एवं आयु तथा पर्याप्त अवस्था में मन, वचन एवं श्वासोच्छ्वास को छोड़कर शेष सात प्राण होते हैं।

भोगभूमिज जीव आहार, भय, मैथुन और परिग्रह इन चार संज्ञाओं से; मनुष्य एवं तिर्यंच गति से; पंचोन्द्रिय जाति से; त्रस काय से; ग्यारह योगों– 4 मनोयोग, 4 वचनयोग, औदारिक, औदारिकमिश्र एवं कार्मण काययोग से; पुरुषवेद एवं स्त्रीवेद से, सम्पूर्ण कषायों से; मति-श्रुत-अवधि-मत्यज्ञान-श्रुताज्ञान-विभंगावधि इन छः ज्ञानों से; सर्व असंयम से; चक्षु-अचक्षु एवं अवधि इन तीन दर्शनों से संयुक्त होते हैं। ये अपर्याप्तक अवस्था में दोनों गुणस्थानों में कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्याओं से तथा पर्याप्त अवस्था में चारों गुणस्थानों में तीनों शुभ - पीत, पद्म एवं शुक्ल लेश्याओं से युक्त होते हैं। ये भव्यत्व एवं अभव्यत्व से; औपशमिक, क्षायिक, वेदक, मिश्र, सासादन और मिथ्यात्व से संयुक्त होते हैं। ये संज्ञी; आहारक एवं अनाहारक तथा साकार एवं निराकार उपयोग वाले होते हैं। भोगभूमिज तिर्यंच और मनुष्य

मन्दकषायी, पुण्यप्रकृतियों के उदय वाले तथा विविध विनोदों में आसक्त होते हैं।[12]

कुभोगभूमि

कुमानुष जहाँ जन्म लेते हैं, वे जहाँ रहते हैं, उस स्थान को कुभोगभूमि या कुमानुषद्वीप कहते हैं। कुभोगभूमि में उत्पन्न मनुष्य गुफा एवं वृक्षतल में रहते हैं तथा फल-फूलों को खाकर जीवनयापन करते हैं। यहाँ के मनुष्य पाप कर्मो के फलस्वरूप कुत्सित रूप को धारण करने वाले होते हैं। लवण समुद्र के आभ्यन्तर भाग में 24, बाह्य भाग में 24 इसी प्रकार कालोदधि समुद्र के आभ्यन्तर भाग में 24 एवं बाह्य भाग में 24 कुल 96 द्वीपों में कुभोगभूमि है। इन द्वीपों में रमणीय उपवन, तडाग एवं फलपुष्पसमन्वित वृक्ष पाये जाते हैं। कुभोगभूमियों में एक जंघा, एक कर्ण, पशुमुख, मत्स्यमुख, गोमुख, मेघमुख, विद्युन्मुख, हस्तिमुख आदि कुत्सित आकृति वाले मनुष्यों होते हैं। एक जंघा वाले पूर्व दिशागत कुमानुष मीठी मिट्टी खाकर, शेष फल-फूल खाकर जीवनयापन करते हैं। ये सभी मन्दकषायी होते हैं, इनकी आयु एक पल्य है। इनका जन्म-मरण अन्य भोगभूमिज के समान ही होता है। इन मनुष्यों का मृत शरीर भी भोगभूमिज के मनुष्यों के समान कपूर की तरह उड़ जाता है। इनका अग्निसंस्कार आदि नही होता है। कुमानुष द्वीपों में तिर्यंच नही पाये जाते हैं, वहाँ मनुष्य गति नाम कर्म के उदय वाले मनुष्य ही उत्पन्न होते हैं। कुभोगभूमि की सम्पूर्ण व्यवस्था जघन्यभोगभूमिवत् कही गई है।[13] तीस भोगभूमियों एवं छ्यानवे कुभोगभूमियों में केवल सुख ही होता है, जबकि कर्मभूमि में सुख-दुख दोनों होते हैं।[14]

भोगभूमि में चरित्र का अभाव

भोगभूमिजों में उत्कृष्ट रूप से चार गुणस्थान ही रहते हैं। धवला

में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि भोगभूमिज में उत्पन्न हुए जीवों के अणुव्रतों का ग्रहण नहीं बन सकता है। चारित्र ग्रहण न कर जाने का उल्लेख करते हुए श्री यतिवृषभाचार्य ने लिखा है–

'ते सव्वे वरजुगला अण्णोण्णुप्पण्णवेमसंगूढा।
जम्हा तम्हा तेसुं सावयवद संजमो णत्थि ॥'[16]

अर्थात् वे सब भोगभूमिज उत्तम युगल पारस्परिक प्रेम में अत्यन्त मुग्ध रहते हैं। अत एव उनके श्रावक के व्रत और संयम नही होता है। भट्ट अकलंक देव का भी कथन है कि भोगभूमियों में यद्यपि ज्ञान एवं दर्शन तो होता है, परन्तु भोगपरिणामी होने से उनके चारित्र नही होता है।[17]

यहॉ यह विशेष ध्यातव्य है कि यद्यपि भोगभूमियों में संयतासंयत एवं संयत तिर्यच या मनुष्य नही होते हैं, तथापि पूर्व बैर के कारण देवों द्वारा वहाँ ले जाकर डाले गये ऐसे तिर्यंच या मनुष्य संभव हैं।[18]

भोगभूमियों की संख्या

देवकुरु, उत्तरकुरु, हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत ये छः भोगभूमियाँ हैं। पाँच मेरु सम्बन्धी होने से इनकी संख्या तीस (5×6 = 30) हो जाती है

अन्तर्द्वीपज कुभोगभूमियों की संख्या छ्यानवे है। लवण समुन्द्र के अन्दर एवं बाहर तथा कालोदधि समुद्र के अन्दर एवं बाहर भाग में 24-24 (24×4 = 96) कुभोगभूमियाँ हैं।

सन्दर्भ :-

(1) तिलोयपण्णत्ती, 1/136-138
(2) 'भरतहैमवतहरिविदेहरम्यकहैरण्यवतैरावतवर्षाः क्षेत्राणि। तद्विभाजिनः पूर्वापरायता

हिमवन्महाहिमवन्निषधनीलरुक्मिशिखरिणो वर्षधरपर्वताः।'

(3) सर्वार्थसिद्धि, 3/37 —तत्त्वार्थसूत्र, 3/10-11

(4) भगवती आराधना, 780 की विजयोदया टीका

(5) तिलोयपण्णत्ती, 4/345-358

(6) महापुराण, 9/37-39

(7) 'भरतैरावतविदेहाः कर्मभूमयोऽन्यत्र देवकुरूत्तरकुरुभ्यः।' —तत्त्वार्थसूत्र, 3/27

(8) 'भरतैरावतयोर्वृद्धिह्रासौ षट्समयाभ्यामुत्सर्पिण्यवसर्पिणीभ्याम्। —वही, 3/27.

(9) द्र.- तिलोयपण्णती, 4/324–396.

(10) द्र.- वही, 4/400–405.

(11) द्र.- वही, 4/407–413.

(12) द्र.- वही, 4/416–427.

(13) रत्नत्रय त्रिलोक रत्नाकर, पृष्ठ 338-342. (गणिनी आर्यिका विशुद्धमती)

(14) 'छब्बीसदुरेसकसय पमाणभोगक्खिदीण सुहमेक्कं।
कम्मखिदीसु पराणं हवेदि सोक्खं च दुक्खं च॥'

— तिलोयपण्णत्ती, 4/2999.

(15) 'भोगभूमावुत्पन्नानां तदुपादानानुपत्ते। धवला, I. I. I

(16) तिलोयपण्णत्ती, 4/386

(17) 'भोगभूमिषु यद्यपि मनुष्याणां ज्ञानदर्शने स्तः, चारित्र तु नास्ति,
अविरतभोगपरिणामित्वात्।' —तत्त्वार्थराजवार्तिक, 3/37

(18) जैनेन्द्रसिद्धान्तकोष, 2/236 पृ.

—उपाचार्य एवं अध्यक्ष-संस्कृत विभाग
एस.डी. (पी.जी.) कालेज,
मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

कर्मक्षय में ध्यान तप का महत्व और स्वरूप

– डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

जैन धर्म के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा स्वतंत्र और स्वाधीन है। कोई किसी का कर्त्ता-भोक्ता-हर्त्ता नहीं है। सभी अपने अपने भावों के अनुसार पुण्य-पाप का अर्जन कर उनके उदय अनुसार सुख-दुख भोगते हैं। इस प्रकार जीव का जीवन-मरण सुख-दुख हानि-लाभ आदि कर्मोदय जन्य परिस्थितियों पर निर्भर करता है। जैन दर्शन में कर्म का तात्पर्य पुद्गल द्रव्य की अशुभ-शुभ रूप उन सूक्ष्म कार्मण वर्गणाओं से हैं जो जीव विशेष के अशुभ-शुभ भावों (परिणामों) के निमित्त से आत्म प्रदेशों के साथ एकक्षेत्रावगाह सम्बंध स्थापित करते हैं और स्थिति पूर्ण होने पर उदय में आकर दुख-सुख की सामग्री एवं मनोविकारों में उत्पत्ति हेतु निमित्त बनते हैं। यह ध्यातव्य है कि आत्मा और कर्म के मध्य कर्त्ता-कर्म सम्बन्ध न हो कर मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होता है। इन मनोविकार रूप क्रोधादि भावों को भाव कर्म कहते हैं। भाव कर्म से आत्मा का ज्ञाता-दृष्टा स्वरूप शांत स्वभाव बाधित होता है। कर्मों को द्रव्य कर्म कहते हैं। आनदि काल से द्रव्य कर्म से भाव कर्म और भाव कर्म से द्रव्य कर्म बंध का अज्ञान रूप क्रम चालू है जो दुखमय और दुख स्वरूप है। इससे निवृत्ति का उपाय है आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और स्वरूप में रमणता। इसे ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप एकता को मोक्ष मार्ग कहा है। यह आत्म-विज्ञान का विषय है

जीवन में धर्म का प्रारम्भ कर्मो के संवर से होता है। संवर अर्थात् कर्मो के आगमन का रुकना और फिर कर्मो की निर्जरा होना। सम्पूर्ण कर्म क्षय से मोक्ष होता है। इस अवस्था में आत्मा अपने द्रव्य गुण स्वरूप को पर्याय में व्यक्त कर परम सुखी और अनंत ज्ञान दर्शन-सुख और वीर्य का धारी होता है। इसे ही शुद्धात्मा की पूर्ण व्यक्तता कहते

हैं। शुद्धात्मा की प्राप्ति संयोग और संयोगी भावों से आत्म स्वरूप के ज्ञायक भाव के भेदविज्ञान से होती है। इस प्रकार शुद्धात्मा के ज्ञान एक अनुभव से कर्मो का संवर होता है। इसके पश्चात् शुद्धोपयोग रूप शुद्धात्मा में स्थिरता एवं इच्छा निरोध से कर्मों की निर्जरारूप कर्म क्षय होता है। यह तप से ही होता है।

कर्मों का आस्रव-संवर

तत्वार्थसूत्रकार आचार्य अमास्वामी ने कर्मो के आस्रव– बंध आदि की स्थिति को निरूपित करते हुए कहा है कि 'कायवाङ्मनःकर्म योगः' (तत्वा. 6/1)1 काय, वचन और मन के परिस्पन्द को योग कहते हैं। 'स आस्रवः' (6/2) वह योग ही आस्रव है। 'शुभः पुण्यस्याऽशुभः पापस्य (6/3) शुभ योग पुण्य और अशुभ योग पापास्रव का कारण है। योग से आत्म-प्रदेशों का स्पंदन होता है, जिससे शुभ-अशुभ कर्मपरमाणु आत्म प्रदेश में प्रवेश करते है। शुभ योग से पुण्य और अशुभ योग से पाप का बंध होता है। योग से प्रकृति और प्रदेश रूप कर्म का बंध होता है। कषाय से स्थिति और अनुभाग बंध होता है- ऋजूसूत्र नय की दृष्टि से। योग संसार अवस्था में होता है। अयोग केवली और सिद्ध भगवान योग रहित हैं। इस प्रकार जैन-दर्शन में योग शब्द का प्रयोग मन-वचन काय की क्रिया रूप में किया जाता है जबकि अन्य दर्शनों में समाधि ा-ध्यान के अर्थ में इसका प्रयोग किया जाता है।

सूत्रकार के अनुसार 'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगाः बन्ध हेतवः'– मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। (8/1) जीव सकषाय होने से कर्म योग्य पुद्गलों को ग्रहण करता है, यही बन्ध है (8/2)। यह बंध प्रकृति, स्थिति, अनुभव (अनुभाग) और प्रदेश के भेद से बंध चार प्रकार का है (8/3) ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय, ये मूल प्रकृति बन्ध के आठ भेंद हैं(8/4)।

'आस्रवनिरोधः संवरः'– आस्रव का निरोध संवर है (9/1)। 'स गुप्तिसमितिधर्मानुप्रेक्षापरीषहजयचारित्रै':- गुप्ति समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीषहजय और चारित्र से संवर होता है (9/2)। 'तपसा निर्जरा च'- तप के द्वारा निर्जरा और संवर होता है(9/13)।

तप का स्वरूप और भेद

'कर्मक्षयार्थ तप्यत इति तपः' – कर्मो का क्षय करने के लिये तपा जाता है वह तप कहा जाता है– तत्वार्थराजवार्तिक (9/6/17)। त्रिरत्न को प्राप्त करने हेतु इच्छा निरोध को तप कहते हैं (धवला 13/5-4-26/54-12) समस्त रागादि पर भावों की इच्छा के त्याग द्वारा स्वस्वरूप में प्रतपन करना-विजयन करना तप है (प्रवचन सार गा. 14 टीका)। जो आत्मा को आत्मा में आत्मा से धारण कर रखता है वह अध्यात्म से तप है। इस प्रकार इच्छाओं के निरोध रूप शुद्धोपयोगीरूपी वीतराग भाव ही सच्चा तप है। तप के दो भेद हैं– बाह्य तप और आभ्यंतर तप। बाह्य तप भी छह प्रकार का है– (1) अनशन (2) अवमौदर्य (3) वृत्ति परिसंख्यान (4) रस परित्याग (5) विविक्त शय्यासन और (6) काय क्लेश इसी प्रकार आभ्यंतर तप भी छह प्रकार का है– (1) प्रायश्चित्त (2) विनय (3) वैयावृत्य (4) स्वाध्याय (5) व्युत्सर्ग-त्याग और (6) ध्यान। इस प्रकार तप बारह प्रकार के होते हैं। तप आत्म दर्शन रूप सम्यक्त्व सहित होते हैं। सम्यक्त्व बिना करोड़ों वर्ष तक उग्र तप तपने पर भी बोधि की प्रप्ति नहीं होती है। (दर्शनपाहुड़ 5 मू.आ. 100)! इसमें बाह्य तप साधन हैं और आभ्यंतर तप साध्य है।

बाह्य तप

लौकिक सुख एवं मंत्रसाधनादि दृष्ट फल की अपेक्षा बिना संयम की सिद्धि इन्द्रिय विषय सम्बन्धी राग के उच्छेद, ध्यान की सिद्धि और

आगम ज्ञान की प्राप्ति हेतु चारों प्रकार के आहार का त्याग करना उपवास (अनशन) कहलाता है (तत्वार्थरा. 9/19/1)! संयम को जागृत करने के लिये, दोषों को शांत करने, सन्तोष, स्वाध्याय एवं सुख की सिद्धि के लिये अवमौदर्य होता है। तृप्ति के लिये पर्याप्त भोजन में से चतुर्थांश या दो चार ग्रास कम खाना अवमोदर है और उसका भाव अवमौदर्य कहलाता है (9/19/3)! एकघर, सातघर, एकगली, अर्द्धग्राम आदि के विषय में भोज्य पदार्थ आदि का नियम कर लेना वृत्ति परिसंख्यान तप है ताकि आशा तृष्णा की निवृति को (1/19/4)! जितेंद्रियत्व, तेजोवृद्धि एवं संयम में बाधा की निवृत्ति हेतु घी, दूध, दही, गुड़, नमक तेल आदि रसों का परित्याग करना रसपरित्याग तप कहलाता है (9/19/5) जन्तु बाधा का परिहार, ब्रह्मचर्य, स्वाध्याय और ध्यान आदि की सिद्धि हेतु निर्जन शून्यागार, गिरिगुफा आदि एकान्त स्थानों में सोना-बैठना विविक्त (एकान्त) शय्यासन तप कहलाता है (9/19/12)! और देह को कष्ट देने की इच्छा विषयसुख की अनांसक्ति और जिनधर्म की प्रभावना हेतु अनेक प्रकार के प्रतिमायोग धारण करना, मौन रखना, आतापन, वृक्षमूल, सर्दी में नदी तट पर ध्यान करना आदि कायक्लेश तप है. (9/19/13)! ये तप दूसरों के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञेय है। जिन्हें मुनिराज गृहस्थ एवं सम्यग्यदृष्टि मिथ्यादृष्टि सभी करते हैं, अतः बाह्य तप कहते हैं।

आभ्यंतर (अंतरंग) तप

प्रायः का अर्थ है साधुजन; चित्त, मन, जिसमें साधुजनों का चित्त लीन हो वह प्रायश्चित्त है। अतः मन की शुद्धि करने वाले कर्म को प्रयाश्चित्त कहते है। प्रमाद अथवा अज्ञान से लगे दोषों की शुद्धि करना प्रायश्चित्त है (9/22/1)! ज्ञान लाभ, आचारशुद्धि और सम्यग् आराधना आदि की सिद्धि विनय तप से होती है। वह है– ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय (9/26/1 एवं 8)। आचार्य,

उपाध्याय आदि पर व्याधि परीषह आदि का, उपद्रव होने पर उन उपद्रवों का 'प्रासुक औषधि, आहारपान, आश्रय, चौकी, फलक, घास की चटाई आदि धर्मोपकरण के द्वारा प्रतीकार करना तथा मिथ्यात्व की ओर जाते हुए को सम्यक्त्व मार्ग में दृढ़ करना वैय्यावृत्य तप हे (9/24/15)! जैन धर्म में स्वाध्याय को परम तप कहा है स्वाध्यायःपरमं तपः स्व+आधि+अय-स्वाध्याय अर्थात् निज का ज्ञान प्राप्त होना ही स्वाध्याय है। वाचना, पृच्छना (पूछना) अनुप्रेक्षा आम्नाय(पाठं) और धर्मोपदेश, ये स्वाध्याय के पॉच भेद हैं।(9/25)! त्याग को व्युत्सर्ग कहते हैं। बाह्य और आभ्यंतर उपधि का त्याग व्युत्सर्ग तप हैं (9/26)!

ध्यान का स्वरूप

चित्त को अन्य विकल्पों से हटाकार एक ही अर्थ में लगाने को ध्यान कहते है, यह ध्यान उत्तम संहनन वाले के अन्तर्मुहूर्त तक हो सकता है (9/27)। यह प्रथम तीन संहनन वालों को ही होता है। एकाग्रचिंतानिरोधो ध्यानम्' में एक शब्द संख्यापद है, अग्र मुख्य वा लक्ष्य यह एकार्थवाची है। चिंता अंतःकरण का व्यापार है। इस प्रकार 'एक अग्रं' एक द्रव्य-परमाणु या भाव परमाणु या अन्य किसी अर्थ में चिन्ता को (चित्तवृति को) नियमित करना केन्द्रित करना, स्थिर करना, एकाग्रचिंता निरोध है। जो आत्मा के द्वारा ध्याया जाता है, वह ध्यान है। और ध्याति मात्र ध्यान है भाव साधन है।

अंङ्गति जानाति जो जानता है वह 'अग्र' आत्मा है। इस दृष्टि से आत्मा में चिन्ता का निरोध करना ध्यान सर्वोत्कृष्ट तप है। शेष सब तप ध्यान की अवस्था में ही होता हैं ध्यान की अवस्था में सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है। शेष सब तप ध्यान की सिद्धि के लिये हैं।

आचार्य अमितगति के अनुसार ध्यानं विनिर्मलं ज्ञानं पुसां संपद्यते स्थिरम (योगसार प्राभृत 9/12) अर्थात् जब निर्मलज्ञान स्थिर हो जाता

हो तब वह ध्यान हो जाता है। एक पदार्थ को जानते हुए चिंतवन रूक जाना (ज्ञान में ठहर जाना) ही ध्यान है। आचार्य रामसिंह के अनुसार स्थिर मन और स्थिर तात्विक श्रुत ज्ञान का नाम भी ध्यान है (तत्वानुशासन, 68) जिस प्रकार नमक जल में विलीन हो जाता है उसी प्रकार चित्त शुद्धात्मा में विलीन हो जावे तब जीव समरसरूप समाधिमय हो जा जाता है (दोहा पा. 207)!

ध्यान के भेद

ध्यान के चार भेद हैं- आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान। आर्त और रौद्र ध्यान अप्रशस्त ध्यान हैं। पाप के कारण भूत हैं और धर्म ध्यान और शुक्लध्यान कर्म दहन करने की सामर्थ्य से युक्त होने के कारण प्रशस्त कहलाते हैं ये मोक्ष के कारण हैं।

ध्यान भाव या परिणामों का अनुगमन करता है और उसी अनुसार तन्मयता होती है। इस दृष्टि से परिणाम तीन प्रकार के होते हैं शुद्ध विशुद्ध और संक्लेश परिणाम। आचार्य कुदकुन्द के अनुसार वीतराग चारित्र रूप धर्म से परिणत आत्मा स्वयं धर्मरूप होता है। जब वह जीव शुभ अथवा अशुभ परिणामों रूप परिणमता है तब स्वयं शुभ और अशुभ और होता है और जब शुद्ध रूप परिणमन करता है तब स्वयं शुद्ध होता है (प्रवचनसार गा. 8-9)! उक्त चार ध्यानों में आर्त और रौद्र ध्यान संक्लेश परिणामों से होता है धर्म्य और शुक्ल ध्यान क्रमशः विशुद्ध परिणामों से होता है। इस प्रकार ध्यान का आधार परिणाम है।

अप्रशस्त ध्यान : संसार भ्रमण का कारण

आर्त्तध्यान : ऋतमर्दनमार्तिर्वातत्र भवमार्त्तम् अर्थात् ऋत, दुख और अर्दन को आर्ति कहते हैं। अर्ति से होने वाला ध्यान आर्त्त ध्यान है। यह चार प्रकार का है- अनिष्ट पदार्थों का संयोग, इष्ट पदार्थों का

वियोग, रोग जनित वेदना और आगामी भोगाकांक्षा रूप निदान। इनके निमित्त से जो संक्लेशतापूर्ण चिंतन दुख होता है वह आर्त्तध्यान कहलाता है। यह चारों आर्त-ध्यान कृष्ण, नील और कापोत लेश्या के विशेष बल से होते हैं। आर्त्तध्यान अज्ञान मूलक कटुफल देने वाला, आसाता वेदनीय कर्म का बन्धक और तिर्यंच गति में ले जाने वाला है। आर्त्तध्यान प्रथम गुणस्थान से छठवें गुण स्थान अर्थात् प्रमत्तगुण स्थान तक होता है। निदान आर्त्त ध्यान प्रमत्त संयत (छठवां) को नहीं होता है।

रौद्र ध्यान : रुद्रः क्रमरस्तत्कर्म रौद्रम् अर्थात् रुलाने वाले को रुद्र या क्रूर कहते हैं रुद्रभावों से होने बाला ध्यान रौद्र ध्यान है। क्रूर आभिप्राय और परिणामों से होने वाले रौद्र ध्यान के चार भेद हैं– हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और परिग्रहानंद रौद्रध्यान। हिंसा, झूठ चोरी कुशील और परिग्रह के भाव रौद्र ध्यान के निमित से होते हैं। अतः हिंसादि पाँच भाव रौद्रध्यान की उत्पत्ति का कारण है। इनका फल नरक गति है। अति संक्लेश परिणामों से सप्तम नरक गति का बंध पडता है। रौद्र ध्यान देशविरत पंचमगुणस्थान तक होता है। प्रमत संयत, छठवें गुण स्थानवर्ती मुनिराज को हो जावे तो मुनि पद भंग हो जाता है।

अग्नि से तप्त लोहपिंड जिस प्रकार चारों ओर से जल अपनी ओर खींचता है उसी प्रकार आर्त्त रौद्र ध्यानी आत्मा चारों ओर से कर्म रूपी जल खींचकर निरंतर कार्मण वर्गणाओं को ग्रहण कर कर्म बंध करता है। इस कारण अप्रशस्त ध्यान संसार दुख का कारण है, अशुभरूप है अतः इनसे निवृत्ति लेकर स्वाश्रित शुभ और शुद्ध में प्रवृत्ति इष्ट है।

प्रशस्त ध्यान मोक्ष का कारण :

भेद-विज्ञान से शुद्धत्मा को उपलब्धि होती है और शुद्धात्मा की

उपलब्धि से कर्मो का आगमन रुकता है संवर होता है शुद्धोपयोग रूप आत्म ध्यान से कमो ' की निर्जरा होती है। आगमिक दृष्टि से कर्मो का संवर और निर्जरा होती है। यही मोक्ष का कारण है। प्रशस्तध्यान दो प्रकार का है– धर्म्यध्यान और शुक्लध्यान। सूत्रकार के अनुसार गुप्ति समिति, धर्म अनुपेक्षा परिषहजय और चारित्र से संवर होता है (तत्वा. 9/2)! तप के द्वारा निर्जरा और संवर होता है (तत्वा. 9/3) यह सग्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चरित्र की एकता पूर्वक ही होता है।

परम्परामोक्ष का कारण धर्म ध्यान

'धर्मादनपेतं धर्म्यम्' अर्थात धर्म से युक्त ध्यान धर्म्य ध्यान है। 'वत्थु सहावो धम्मो' के अनुसार वस्तु का स्वभाव ही धर्म है और उसका ध्यान धर्म्य ध्यान हे। इस दृष्टि से वस्तु स्वरूप से युक्त जो ज्ञान है, उसे धर्म ध्यान कहते है। त्रिरत्न को धर्म कहते हैं अतः उस धर्म से युक्त जो चिंतन है वह धर्म्य ध्यान है। मोह एवं क्षोभ से रहित जो आत्मा का परिणाम है, वह धर्म है। इस धर्म से उत्पन्न जो ध्यान हे वह धर्म्य ध्यान है उत्तम क्षमादि दश प्रकार का धर्म कहा है, उससे सम्पन्न होने वाला जो ध्यान हे वह धर्म्य ध्यान है।

धर्म्य ध्यान चार प्रकार का है– 1. आज्ञाविचय– वीतराग भगवान द्वारा कहे आगम के अभ्यास से पदार्थो का निश्चय करना 2. अपाय विचय मिथ्यात्वादि/कुदेवादिक के सेन से बचने के उपाय का चिंतन करना 3. विपाक विचय-कर्मोदय जन्म शुभ अशुभ भावों से भिन्न ज्ञायक आत्मा का चिंतन करना तथा 4. संस्थान विचय छह द्रव्यों एवं तीन लोक का चिंतन करना। विषय की दृष्टि से धर्म ध्यान पिण्डस्थ, परस्थ, रूपस्थ और रूपातीत के रूप में भी वर्गीकृत किया गया हैं जिसका वर्णन ज्ञानार्णव में किया है।

समस्त परिग्रह के त्याग, कषायों के दमन, व्रतों के धारण तथा मन और इन्द्रियों की विजय पूर्वक ध्यान होने से, यह सब ध्यान की सामग्री

कही गयी है। (तत्वानुशासन श्लोक 95)। इन्द्रियों को जीतने में मन समर्थ है, अतः मन को ही ज्ञान-वैराग्य भावपूर्वक अपने वश में करना चाहिये। मनोयोग पूर्वक नमस्कार मंत्र एवं स्वाध्याय से ध्यान का अभ्यास होता है और ध्यान से स्वाध्याय में शुद्धि होती है जिससे परमात्मा प्रकाशित होता है। (तत्वा. 80-81)

धर्म्य ध्यान के दो भेद हैं – निश्चय धर्म ध्यान और व्यवहार धर्म ध्यान। अनंतानुबंधी प्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय और प्रमाद के अभाव में निश्चय धर्म्य ध्यान क्रमशः चौथे से सातवें गुणस्थान तक के भव्य जीवों को होता है। व्यवहार धर्म ध्यान अभव्य मिथ्यादृष्टि भी करता है। इस प्रकार धर्मध्यान के प्रमुख अधिकारी अप्रमत संयत (9वॉ गुणस्थान) और गौण रूप से प्रमत्त संयत (छठवाँ गुण स्थान) के भव्य जीव हैं। *यह असंयत सम्यग्दृष्टि और संयतासंयत गुणस्थानों के* जीवों को भी दर्शन पूर्वक होता है। ध्याता की दृष्टि से यह तीन प्रकार का है– जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट । ध्यान के फल की सिद्धि लेश्या (आत्म परिणामों) की विशुद्धि के अनुसार कही गयी है। शुभोपयोग रूप धर्म्य ध्यान स्वर्ग सुख और परम्परा से मोक्ष का कारण है।

आचार्य कुन्दकुद के अनुसार भरतक्षेत्र में पंचम काल में आत्म ध्यान में स्थित मुनियों को धर्म ध्यान होता है (मोक्ष पा. 76) अस्तु मुनिराजों को शक्ति अनुसार यथाख्यात चारित्र से अतिरिक्त चारित्रों का आचरण करना चाहिये (तत्वानुशासन, 86)।

वृक्ष, कोटर, जीर्ण उद्यान, श्मशान, गुफा, सिद्धकूट, जिनालय, कोलाहल रहित स्थल गृह आदि में ध्यान करना चाहिये। सिद्धक्षेत्र महातीर्थ आदि में ध्यान की सिद्धि होती है। काष्ठफलक, शिला या भूमिपर पर्यक अर्द्धपर्यंक, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन अथवा कायोत्सर्ग से स्थित होकर पूर्व या उत्तर दिशा में भावपूर्वक ध्यान करना चाहिये। राग द्वेष मोह विहीन समता भाव से किया गया धर्म ध्यान श्रेष्ठ होता है।

2. **साक्षात् कर्म क्षय का हेतु शुक्लध्यान** :– 'शुचि गुणयोगाच्छुक्लम्' अर्थात् शुचि गुण के योग से शुक्ल होता हैं।

– कर्म क्षय एवं अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति हेतु योगी मुनिराज धर्म ध्यान को छोड़कर आत्यन्तिक शुद्धि का आश्रय लेकर अतिशय निर्मल शुक्ल ध्यान को प्रारम्भ करते है। यह बज्रवृर्षभनाराच संहनन युक्त होता है। जो चित्त क्रिया से रहित, इन्द्रियों से अतीत और ध्यान-धारण से विहीन होकर अन्तर्मुखी हो जाता है– समस्त संकल्प-विकल्पों से रहित होकर आत्मस्वरूप में लीन हो जाता है– उसे शुक्ल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान निर्मलता तथा कषायों के क्षय या उपशम हो जाने के कारण वैडूर्यमणि के समान अतिशय निर्मल व स्थिर होने के कारण शुक्ल ध्यान कहा गया है, जो सातवें गुणस्थान से ऊपर के गुणस्थानों में होता है और शुद्धोपयोग रूप है।

शुक्ल ध्यान भी चार प्रकार का होता है 1. पृथक्त्व अवितर्क सविचार (पृथक्त्ववितर्क) 2. एकत्व अवितर्क अविचार (एकत्ववितर्क) 3. सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाती और 4. व्युपरत क्रिया निवर्ति। प्रथम दो शुक्ल ध्यान छद्म योगियों अर्थात् क्रमशः उपशांत मोही और क्षीण मोही के तथा अंत के दो शुक्ल ध्यान अठारह दोष रहित केवलज्ञानियों के होते हैं। इन चार शुक्ल ध्यानों में प्रथम ध्यान मन, वचन और काय इन तीन योग वालों के दूसरा तीन योगों में से किसी एक योगवाले के तीसरा काय योग वालों के चौथा योग से रहित केवलियों के होता है। पूर्व के दो शुक्लध्यान श्रुत ज्ञान के, विषय के सम्बन्ध से श्रुत के आश्रय से होते हैं। वितर्क श्रुतज्ञान रूप है। और वीचार अर्थ व्यजन और योगों की संक्राँति-परिर्वन का सूचक है। अंत के दो ध्यान जिनेन्द्र देव के सब प्रकार के आलम्बन से रहित होते हैं।

पृथक्त्व वितर्क शुक्लध्यान में योगी एकाग्र चित्त हो कर एक अर्थ से दूसरे अर्थ का एक वचन से दूसरे वचन का, एक योग से दूसरे योग का तथा एक पर्याय से दूसरी पर्याय का आलंबन लेता हुआ एक द्रव्य

परमाणु से अन्य द्रव्य परमाणु का चिन्तन करता हुआ महाकर्म का उपशम या क्षय करता है। इस प्रकार मोह क्षीण एंव कषायें शांत होने पर निर्मल मन युक्त योगी एकत्व वितर्क ध्यान योग्य हो जाता है। जिस शुक्ल ध्यान में योगी बिना खेद के एक द्रव्य, एक परमाणु और एक पर्याय का एक ही योग के द्वारा चिन्तन करना है, वह एकत्व वितर्क शुक्ल ध्यान कहलाता है। इस अतिशय निर्मल ध्यान रूप अग्नि के वृद्धिंगत होने पर योगी के घातिया कर्म क्षण भर में भस्म हो जाते हैं और योगी तेरहवें गुण स्थान सयोग केवली हो जाता हैं। उसका केवल ज्ञान सूर्य उदित होकर लोकालोक को प्रकाशित करने लगता है। इस प्रकार शुद्धोपयोग रूप परम आत्म ध्यान से चार घातिया कर्मों की सर्व सेंतालीस आयुकर्म की तीन एवं नाम कर्म की तेरह, कुल तिरेसठ कर्म प्रकृतियों का क्षय कर तीर्थकर /केवली के रूप में त्रिलोक पूज्य हो जाते हैं।

सर्वज्ञ प्रभु अंतर्मुहूर्त आयु शेष रहने पर तृतीय– सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती शुक्ल ध्यान के योग्य होते हैं और वे वेदनीय नाम और गोत्र की स्थिति भी अंतरमुहूर्त रहने पर सूक्ष्य काय योग का अवलम्बन लेकर सूक्ष्मक्रिया प्रतिपाती ध्यान प्रारम्भ करते हैं। इससे चार अघातिया कर्मों की स्थिति समान हो जाती है। इससे अयोग कवली दुर्जय बहत्तर कर्म प्रकृतियाँ क्षय को प्राप्त होती है। फिर उसी क्षण व्युपरत क्रिया निवृत्ति नामक शुक्ल ध्यान प्रकट होता हैं जिससे वीतरागी प्रभु की अवशेष तेरह कर्म प्रकृतियाँ शीघ्र ही क्षय को प्राप्त हो जाती हैं और अयोग प्रभु आत्मा स्वरूप की सिद्धि को प्राप्त कर चौदहवें गुण स्थान में पाँच (अ इ उ ऋ ऌ) ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण काल प्रमाण स्थित रहकर कर्म बधं से मुक्त हो सिद्धालय हेतु स्वभावतः ऊर्ध्वगमन करते हैं।

प्रशस्त ध्यान की महत्ता

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि आभ्यंतर और बाह्य तप

छह छह प्रकार के है; किन्तु कर्मक्षय अंततः आत्मध्यान एवं शुक्ल ध्यान से ही होता है। आचार्य कुंदकुंद के अनुसार जो कर्म अज्ञानी लक्ष कोटि भवों में खपाता है वह कर्म ज्ञानी तीन प्रकार से गुप्त (त्रिगुप्ति) होने से उच्छ्वास मात्र में खपा देता है (प्र.सार गा.238) आचार्य यति वृषभ के अनुसार जिस प्रकार चिर संचित ईधन को पवन युक्त अग्नि जला देती है, वैसे ही ध्यान रूपी अग्नि बहुत भारी कर्म ईधन को क्षण मात्र में जला देती है (तिलोय पण्णति 22)। रागादि परिग्रह से रहित मुनि शुक्ल ध्यान द्वारा अनेक भवों के संचित कर्मो को शीघ्र जला देता है (तिलोय. 64) जो दर्शन मोह और चारित्र मोह को नष्ट कर विषयों से विरक्त होता हुआ मन को रोककर आत्म स्वभाव में स्थित होता है, वह कर्म बंध तोडकर मोक्ष सुख पाता है (तिलोय. 23/48)। इस दृष्टि से आत्म ध्यान एवं शुद्धोपयोग रूप शुक्ल ध्यान कर्मक्षय की अचूक ओषधि है जिसमें धर्म ध्यान शुभोपयोग रूप साधक का कार्य करता है। ऐसी पवित्र ध्यान आत्मध्यान सभी को इष्ट हो यही कामना है।

समग्र रूप से विश्व की सभी जीवात्मायें अपना ज्ञातादृष्टा अकर्त्ता-अभोत्ता निर्ममत्व स्वरूप समझ कर स्व-स्वरूप में अपनत्व स्थापित कर तथा स्व-स्वरूप के शुद्ध-ध्यान (शुद्धोपयोग रूप) में स्थित-लीन होकर स्वयं अपने ही पुरुषार्थ से बिना किसी पर की अपेक्षा किये हुये, विकार, विभावों एवं जड़ कर्मबन्धनों से मुक्त होकर सिद्ध परमात्मा हो सकती है। यह सब आत्म-ध्यान का ही फल है।

बी 369, ओ.पी.एम. कालोनी
अमंलाई पेपरमिल
अमलाई शहडोल (म.प्र.)

जैन साहित्य और पुरातत्त्व के परिप्रेक्ष्य में सप्तम तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का जीवन चरित एवं पञ्च कल्याणक भूमियाँ

– डॉ. कमलेश कुमार जैन

यस्तीर्थं स्वार्थसम्पन्नः परार्थमुदपादयत्।
सप्तमं तु नमस्तस्मै सुपार्श्वाय कृतात्मने।।

वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थङ्करोंमें सातवें तीर्थङ्कर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म काशी जनपद में हुआ था। तदनन्तर क्रमशः आठवें तीर्थङ्कर भगवान् चन्द्रप्रभ, ग्यारहवें तीर्थङ्कर श्रेयांसनाथ और तेइसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म भी इसी काशी जनपद में हुआ। उपर्युक्त चार तीर्थङ्करों में से भगवान् सुपार्श्वनाथ और भगवान् पार्श्वनाथ के नाम में एकदेश साम्य है। किन्तु भगवान् सुपार्श्वनाथ का चिह्न नन्द्यावर्त स्वस्तिक है और भगवान् पार्श्वनाथ का चिह्न सर्प (नाग) है। अतः दोनों तीर्थङ्कर पृथक्-पृथक् हैं, एक नहीं।

काल की अपेक्षा तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ परवर्ती हैं और जन-जन की श्रद्धा से जुड़े हैं तथा तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ पूर्ववर्ती हैं और उपकारक होने से यद्यपि वे जन-जीवन से जुड़े हैं तथापि काल की अपेक्षा पर्याप्त पूर्ववर्ती होने से दोनों के मध्य एक लम्बा अन्तराल है। इन सबके बावजूद नामसाम्य के कारण सामान्य लोगों में दोनों तीर्थङ्कर इतने घुलमिल गये कि तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का जन-जीवन से निकट का सम्बन्ध होने के कारण उनका चिह्न सर्प (नाग) तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के साथ भी जुड़ गया। फलस्वरूप तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के ऊपर कमठकृत उपसर्ग का निवारण करते हुये पद्मावती और धरणेन्द्र में से ऊपर फणावली के माध्यम से तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की रक्षा करने वाले धरणेन्द्र की फणावली

तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ से भी जुड़ गई और तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की मूर्तियों की प्रतीक फणावली तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों का भी एक अङ्ग बन गई। अतः तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की अनेक मूर्तियों पर आज भी यह फणावली देखी जा सकती है।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की मूर्तियों पर सप्तफणों से युक्त फणावली होती है और तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों पर पञ्चफणों से युक्त फणावली।[1] किन्तु तथ्य कुछ और ही है। क्योंकि तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की मूर्तियों पर सप्त-फणावली से लेकर सहस्र-फणावली तक पाई जाती है, जबकि तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों पर पञ्च और सप्त-फणों से युक्त फणावली श्रवणबेलगोलस्थ चन्द्रगिरि पर विराजमान तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की मूर्ति पर सप्त-फणावली सुशोभित है।

इस फणावली की साम्यता के बावजूद काल की अपेक्षा तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ पूर्ववर्ती अर्थात् बड़े हैं और तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ परवर्ती अर्थात् छोटे हैं। इसीलिये काशी और उसके आसपास के क्षेत्रों में आज भी ये क्रमशः बड़े गुरु और छोटे गुरु के प्रतीक हैं।

वैदिक परम्परा में नाग का सम्बन्ध योगिराज श्रीकृष्ण से जुडा है, क्योंकि उन्होंने यमुना नदी वासी कालिया नाग का मान मर्दन किया था। वैदिक संस्कृति से जुड़े योगिराज श्रीकृष्ण के जन्म काल जन्माष्टमी एवं वैदिक संस्कृति में ही नाग पञ्चमी के दिन नाग पूजा होने के कारण भी वैदिक संस्कृति से नाग का निकट का सम्बन्ध है। इस प्रकार श्रमण और वैदिक- दोनों संस्कृतियों से नाग का गहरा सम्बन्ध है। अतः नागपञ्चमी और योगिराज श्रीकृष्ण के जन्मकाल जन्माष्टमी के अवसर पर काशी और उसके आसपास के क्षेत्रों की गलियों में आज भी बच्चे नाग का चित्र बेचने के लिये जोर-जोर से आवाज लगाते हैं कि बड़े गुरु का नाग लो भाई बड़े गुरु का नाग लो। छोटे गुरु का नाग लो भाई छोटे गुरु का नाग लो।

इस प्रकार लोक-जीवन में नाग के चित्रों को बेचने की जो प्रक्रिया

है उसका मूल सम्बन्ध बड़े गुरु तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ और छोटे गुरु तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की परम्परा से जुड़ा है और जैन संस्कृति में प्रतीक रूप में आज भी विद्यमान है।

इस प्रकार लोक जीवन पर व्यापक प्रभाव डालने वाले तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के पूर्वभव के सम्बन्ध में शास्त्रों में उल्लेख मिलता है कि धातकी खण्ड के पूर्व विदेह क्षेत्र में में सीता नदी के उत्तर तट पर सुकच्छ नाम का एक देश है। उसके क्षेमपुर नामक नगर में नन्दिषेण नाम का एक राजा राज्य करता था। वह अन्यन्त चतुर और पराक्रमी था। उसने अपने बन्धुओं, मित्रों तथा सेवकों के साथ बहुत समय तक राज्य सुख का अनुभव किया, किन्तु उसे वैराग्य हो गया। अतः उसने धनपति नामक अपने पुत्र को राज्य का भार सौंप दिया और अन्य अनेक राजाओं के साथ मुनिश्री अर्हन्नन्दन के पास जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। पुनः षोडश कारण भावनाओं को भाते हुये उस राजा ने तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध किया। आयुष्यकर्म के समाप्त होने पर संन्यास पूर्वक मरण करने के कारण उसने मध्यम ग्रैवेयक के सुभद्र नामक मध्यम विमान में अहमिन्द्र के रूप में जन्म लिया। वहाँ वह शुक्ल लेश्या का धारक था। उसकी ऊँचाई दो हाथ और आयु सत्ताइस सागर थी।[2]

इस अवधि में स्वर्ग के समस्त सुख भोगकर अन्त में जब पृथ्वी तल पर अवतीर्ण होने का समय आया तो वे वाराणसी के अधिपति इक्ष्वाकुकुलशिरोमणि महाराजा सुप्रतिष्ठित की महारानी माता पृथिवी सेना की कुक्षि (गर्भ) में भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को आये और ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में षष्ठ तीर्थङ्कर भगगवान् पद्मप्रभ के जन्म के दस लाख पूर्व सहित नौ हजार करोड़ सागरोपम के व्यतीत हो जाने पर उनका जन्म हुआ।[3]

नील वर्ण से सुशोभित तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की आयु चौरासी लाख पूर्व और ऊँचाई दो सौ धनुष थी।[4] उनका-राज्यकाल बीस पूर्वाङ्ग सहित चौदह लाख पूर्व प्रमाण था। उन्हें जब वन लक्ष्मी का विनाश देखकर

वैराग्य उत्पन्न हुआ तो वे ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन पूर्वाह्न में विशाखा नक्षत्र में मनोमति नाम की पालकी में आरूढ होकर सहेतुक वन गये और तृतीय उपवास के साथ काशी में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण कर ली। आपके साथ एक हजार राजकुमारों ने भी दीक्षा ग्रहण की थी। दीक्षित होने के पश्चात् वे चर्या के लिये सर्वप्रथम सामखेट नामक नगर गये। वे छद्मस्थ अवस्था में नौ वर्ष तक मौन रहे। कुछ समय पश्चात् फाल्गुन कृष्णा षष्ठी को उन्हें केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई।[5]

केवली अवस्था में वे बल आदि पच्चानवे गणधरों से घिरे रहते थे तथा दो हजार तीस पूर्वधारियों के अधिपति थे। दो लाख चबालीस हजार नौ सौ बीस शिक्षक उनके साथ रहते थे। नौ हजार अवधिज्ञानी उनकी सेवा करते थे। ग्यारह हजार केवलज्ञानी उनके सहगामी थे। पन्द्रह हजार तीन सौ विक्रियाऋद्धि के धारक उनकी पूजा करते थे। नौ हजार एक सौ पचास मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे। और आठ हजार छह सौ वादी उनकी वन्दना करते थे इस प्रकार सब मिलाकर वे तीन लाख मुनियों के स्वामी थे। मीनार्या आदि तीन लाख श्रावक और पाँच लाख श्राविकाएँ उनकी पूजा करती थीं। इस प्रकार वे विहार करते हुये उन्होंने एक लाख पूर्व 20 पूर्वाङ्ग 9 वर्ष तक धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।[6]

जब आयु एक माह शेष रह गया तब तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ श्रीविहार बन्दकर सम्मेद शिखर पहुँचे। वहाँ एक हजार मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण किया और फाल्गुन कृष्णा सप्तमी के दिन विशाखा नक्षत्र में सूर्योदय के समय प्रभास कूट से मुक्ति प्राप्त की । तत्पश्चात् पुण्यवान् कल्पवासी उत्तम देवों ने तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का मोक्ष कल्याणक मनाया।[7]

मोक्षगमन के पश्चात् तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की निर्वाण स्थली प्रभास कूट से 49 कोड़ाकोड़ी, 84 करोड़, 72 लाख, 7 हजार, 742 मुनिराजों ने क्षपकश्रेणी का अवलम्बन लेकर घातिया कर्मों का भी क्षय कर प्रभास कूट से निर्वाण प्राप्त किया।[8]

प्रभास कूट की वन्दना करने से भव्य जीवों को 32 करोड़ प्रोषधोपवास से प्राप्त होने वाले फल की प्राप्ति होती है।[9]

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ से एक हजार करोड़ सागरोपम में से 41943 हजार और साढ़े आठ माह कम कर देने पर जितना समय शेष रहता है उतने समय पूर्व तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ का निर्वाण हुआ था।[10]

तीर्थङ्कर सुपार्श्व विषयक साहित्य :

भगवान् सुपार्श्वनाथ के सन्दर्भ में सम्प्रति तीन प्रकाार का साहित्य उपलब्ध हैं– काव्य साहित्य, 2. स्तुति साहित्य और पूजा साहित्य। प्रथम काव्य साहित्य भगवान् के पूर्वभव सहित सम्पूर्ण जीवन-चरित पर प्रकाश डालता है। द्वितीय स्तुति-साहित्य में भगवान् सुपार्श्वनाथ की स्तुति की गई है और तृतीय पूजा साहित्य में भगवान् सुपार्श्वनाथ के कतिपय गुणों का विवेचन किया गया है। इसके अतिरिक्त कुछ स्फुट रचनाएँ भी है, जिनमें चौबीस तीर्थङ्करों को नमस्कार करने के क्रम में सप्तम तीर्थङ्कर भगवान् सुपार्श्वनाथ को भी नमस्कार किया गया है।

विस्तृत विवेचन इस प्रकार है–

काव्य साहित्य :

जिनरत्न कोश में सुपार्श्व चरित के नाम से सम्बद्ध तीन चरित-काव्यों का उल्लेख किया गया है।[11]

सुपासनाहचरिय– विक्रम की बारहवीं शती के अन्त (वि.सं. 1199) में हर्षपुरीय गच्छ के श्री हेमचन्द्रसूरि के शिष्य श्री लक्ष्मणगणि द्वारा प्राकृत भाषा में निबद्ध सुपासनाहचरिय एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं उच्चकोटि की रचना है। इसमें लगभग आठ हजार गाथाओं में सप्तम तीर्थङ्कर भगवान् सुपार्श्वनाथ का चरित विस्तार से दिया गया है। यह ग्रन्थ तीन प्रस्तावों में विभक्त है।

इसके प्रथम प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के पूर्वभवों का वर्णन है और

शेष भाग में उनके वर्तमान कालीन भव का। प्रथम प्रस्ताव में सुपार्श्वनाथ के मनुष्य एव देवभवों का विस्तृत विवेचन है, जिसमें लक्ष्मणगणि ने बतलाया है कि किस प्रकार अनेक भवों में सम्यक्त्व एवं संयम के प्रभाव से अपने व्यक्तित्व का विकास किया या और अन्त में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्धकर सप्तम तीर्थङ्कर का पद प्राप्त किया था।

द्वितीय प्रस्ताव में तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के जन्म, विवाह और निष्क्रमण आदि का वर्णन है। इस प्रकार इसमें विविध धर्मोपदेशों और कथाओं के माध्यम से भगवान् सुपार्श्वनाथ का चरित्र-चित्रण किया गया है। साथ ही सम्यग्दर्शन का माहात्म्य, श्रावक के बारह व्रत और उनके अतिचार तथा अन्य धार्मिक विषयों को भी विविध कथाओं के माध्यम से प्रस्तुत किया है। इन कथाओं में तत्कालीन बुद्धि-वैभव, कला-कौशल, आचार-व्यवहार, सामाजिक रीति-रिवाजों, राजकीय परिस्थितियों एवं नैतिक-जीवन को उन्नत बनाने वाले विविध प्रसंगों पर प्रकाश डाला है।[12]

अन्य सुपार्श्वनाथ चरित्र– उपर्युक्त के अतिरिक्त जालिहर गच्छ के सर्वानन्द के प्रशिष्य एवं धर्मघोषसूरि के शिष्य तथा पट्टधर श्री देवसूरि (विक्रम की तेरहवी शताब्दी) के द्वारा भी प्राकृत भाषा में रचित एक सुपार्श्वनाथचरित का उल्लेख मिलता है।[13]

इसी क्रम में विबुधाचार्य द्वारा प्राकृत भाषा में रचित एक सुपार्श्वचरित्र का उल्लेख है। इनके अतिरिक्त एक अज्ञातकर्तृक सुपार्श्वनाथचरित्र तथा संस्कृत भाषा में निबद्ध एक अन्य सुपार्श्वनाथचरित्र का भी उल्लेख है।[14]

स्तोत्र-साहित्य :

स्वयंभू स्तोत्र– यह आचार्य समन्तभद्र की रचना है। इसमें उन्होंने ऋषभादि से लेकर महावीर पर्यन्त कुल चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की है। सातवें क्रम में भगवान् सुपार्श्वनाथ की कुल पाँच पद्यों में स्तुति की

है, जिनमें कहा गया है कि–अविनाशी स्वरूप में लीन होना जीव का प्रयोजन है, क्षणभंगुर भोगों में नही। भोगाकांक्षा से ताप की शान्ति नहीं होती है। जिस प्रकार गतिशील मनुष्य के द्वारा चलाया जाने वाला यन्त्र गति रहित होता है, उसी प्रकार जीव के द्वारा धारण किया गया शरीर गति रहित है। यह शरीर दुर्गन्ध युक्त एवं विनाशशील है, अतः इससे अनुराग करना उचित नहीं है। अशुभ कर्मों के फलस्वरूप भवितव्यता को कोई टाल नहीं सकता है। अहङ्कार के वशीभूत संसारी प्राणी अनेक कारणों को मिलाकर भी सुख-दुःखादि कार्यों को करने में असमर्थ है। जीव मृत्यु से डरता है, किन्तु उससे छुटकारा नहीं है। व्यक्ति मोक्ष चाहता है, किन्तु उसकी प्राप्ति नहीं होती है। फिर भी भय और काम के वशीभूत हुआ अज्ञानी जीव व्यर्थ दुःखी होता है। हे सुपार्श्वनाथ भगवान् आप सभी तत्त्वों के ज्ञाता हैं और माता की तरह अज्ञानियों के हितसाधक हैं। सम्यग्दर्शनादि गुणों के अन्वेषक जनों के आप नेता हैं। अतः आज मैं भी भक्तिपूर्वक आपकी वन्दना करता हूँ।

स्तुतिविद्या– इसका अपरनाम जिनशतक भी है। यह आचार्य समन्तभद्र की कृति है। इसमें उन्होंने ऋषभादि चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति अलंकृत भाषा में की है। सातवें क्रम में तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ की मात्र एक पद्य में स्तुति की है। इसमें वे कहते हैं कि–हे सुपार्श्वनाथ भगवन्! आप स्तुति करने वाले और निन्दा करने वाले के विषय में समान हैं। सबको पवित्र करने वाले हैं। आप अकेले होते हुये भी नेता की तरह सबके द्वारा सेवनीय हैं–

स्तुवाने कोपने चैव समानो पन्न पावकः।
भवानेकोपि नेतेव त्वमाश्रेयः सुपार्श्वकः।।[15]

लघुतत्त्वस्फोट– इसका अपर नाम शक्तिमणित कोश भी है। यह आचार्य अमृतचन्द्रसूरि द्वारा लिखित एक स्तुतिपरक ग्रन्थ है। इसमें आचार्यश्री ने विविध पच्चीस विषयों का पच्चीस-पच्चीस पद्यों में विवेचन किया है। प्रथम पञ्चविंशतिका में समुच्चय रूप से चौबीस तीर्थङ्कर की स्तुति की गई है। पुनः आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने तीर्थङ्करों

को लक्ष्य में रखकर स्तुति के बहाने अध्यात्मरस की वर्षा करते हुये दार्शनिक विषयों का विवेचन दिया है। ये सभी स्तुतियाँ सामान्य हैं किसी तीर्थङ्कर विशेष से सम्बद्ध न होकर मात्र ज्ञानज्योति से सम्बद्ध हैं।

इस ग्रन्थ में आठवीं स्तुति उपजाति छन्द में है। इसमें आपने स्पष्ट किया है कि कषाय बन्ध का कारण है। इसलिए आपने कषाय-क्षय को ही मुक्ति का कारण माना है। आगे वे कहते हैं कि– हे भगवन्! आपने अपनी शक्ति का उत्तरोत्तर विकास करते हुये कषायों के ऊपर ऐसा प्रहार किया है कि सभी कषायें स्वतः नष्ट हो गई और केवलज्ञान प्रकट हो गया। ज्ञानपुञ्ज होने के पश्चात् आयुष्य कर्म के शेष रहने के कारण आप उसे भोगने के लिये विवश हो गये, अतः आपने धर्मतीर्थ का प्रवर्तन किया।

आचार्य अमृतचन्द्र आगे कहते हैं कि तीर्थ से तीर्थङ्कर और तीर्थङ्कर से तीर्थ का प्रवर्तन होने के कारण आप बीजाङ्कुरन्याय से कार्यकारण भाव रूप हैं। सर्वज्ञ होकर भी शब्दों की अशक्ति के कारण आपने समस्त पदार्थों का अनन्तवाँ भाग ही कहा है। आपके शब्द स्याद्वादरूप मुद्रा से युक्त हैं। सापेक्ष दृष्टि से विश्व एकरूप भी है और अनेक रूप भी है। जिस प्रकार पयोरसज्ञ बिलाव अग्नि से तप्त दुग्ध को पीते हुये महादुःख के भार को सुख रूप समझता है, उसी प्रकार समतारूप रस के ज्ञाता मुनियों को महादुःखरूप भार सुखरूप ही प्रतीत होता है। शब्दरूप ब्रह्म आपके केवल ज्ञान रूप मण्डप के एक कोने का चुम्बन करता हुआ प्रतीत होता है, अतः लोक में आप ही एक परम ब्रह्म हैं।

श्री चतुर्विंशति सन्धान महाकाव्य– यह कृति महाकवि पण्डित जगन्नाथ (वि.सं. 1729 के आसपास) की है। इसमें संस्कृत भाषा में निबद्ध एक मात्र पद्य है। जो पच्चीस बार लिखा गया है। इसमें चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की गई है। इसकी विशेषता यह है कि इस एक पद्य के ही भिन्न-भिन्न अर्थ करने पर कुल पच्चीस अर्थ निकलते हैं। प्रथम अर्थ में समुच्चय रूप से चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति रूप अर्थ निकलता

है। तदनन्तर ऋषभादि से लेकर महावीर पर्यन्त क्रमशः प्रत्येक तीर्थङ्कर का स्तुति परक अर्थ निकलता है। सातवें क्रम में उसी एक पद्य का अर्थ महाकवि जगन्नाथ ने अपनी स्वोपज्ञ टीका में भगवान् सुपार्श्वनाथ का स्तुतिपरक अर्थ निकाला है।

स्रग्धरा छन्द में लिखा गया वह पद्य इस प्रकार है-

श्रेयान् श्रीवासुपूज्यो, वृषभजिनपतिः श्रीद्रुमाङ्कोथधर्मो।
हर्यङ्कःपुष्पदन्तो, मुनिसुव्रतजिनोऽनन्तवाक् श्रीसुपार्श्वः।
शान्ति पद्मप्रभोरो, विमलविभुरसौ वर्धमानोऽप्यजाङ्को,
मल्लिर्नेमिर्नमिर्मां सुमतिरवतु सच्छ्रीजगन्नाथधीरम्॥7॥[16क]

सुपार्श्वनाथ स्तोत्र- जिनरतनकोश में संस्कृत भाषा में रचित एक सुपार्श्वनाथ स्तोत्र का उल्लेख है।[16ख]

चौबीसी- तेरापंथ के चतुर्थ आचार्य श्रीमज्जयाचार्य ने वि.स. 1900 में राजस्थानी भाषा में एक चौबीसी की रचना की थी। यह रचना अत्यन्त भावपूर्ण है। इसमें उन्होंने ऋषभादि चौबीस तीर्थङ्करों की स्तुति की है। 17 पद्यों की प्रस्तावना के साथ प्रत्येक तीर्थङ्कर की स्तुति सात-सात पद्यों में है। सातवें क्रम में श्रीमज्जयाचार्य भगवान् सुपार्श्वनाथ की स्तुति करते हुये कहते हैं कि- प्रतिदिन सुपार्श्व स्वामी का भजन करे। देव और मनुष्य अपकी सेवा करते हैं। आपके प्रतिबोधन से लोग उदासीन हो जाते हैं। चक्रवर्ती की खीर और क्षीर समुद्र का नीर - दोनों अत्यधिक मधुर होते हैं, किन्तु आपकी वाणी में उससे भी अधिक मिठास है। हे प्रभो। तुम दीन दयाल हो और अशरणों के शरण हो। मैं तुम्हारा दास हूँ। तुम मेरी अभिलाषा पूर्ण करो।[17]

पूजा सहित्य :

पूजा के माध्यम से व्यक्ति अपनी भावनाओं को वैसे ही व्यक्त करता है जैसे स्तोत्र अथवा स्तुति के माध्यम से करता है। अन्तर मात्र इतना है कि पूजा के साथ द्रव्य भी समर्पण किया जाता है। और

कभी-कभी नृत्य एवं सङ्गीत का भी समायोजन किया जाता है। पूजा एकाकी भी की जाती है और सामूहिक रूप में भी।

भगवान् सुपार्श्वनाथ पूजा की रचना भी इसी उद्देश्य की पूर्ति करती है। सम्प्रति कविवर बख्तावर, कविवर वृन्दावन एवं श्री राजमल पवैया ने पूजा के माध्यम से भगवान् सुपार्श्वनाथ का गुणगान करते हुये अपनी श्रद्धा-भक्ति प्रदर्शित की है।[18]

गुरु ग्रह की शान्ति के लिये जिन तीर्थङ्करों की जाप्य का विधान है उनमें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के जाप्य करने का भी उल्लेख है।[19]

पुरातत्व में सुपार्श्वनाथ :

तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ के सम्बन्ध में जो पुरातात्विक साक्ष्य मिले हैं, उनमें मथुरा के सम्बन्ध का कङ्काली टीला प्रमुख है और प्रायः इसी को आधार बनाकर अनेक विद्वानों ने अपने अपने ग्रन्थों में इसका उल्लेख किया है। इसी को आधार बनाकर पं. बलभद्र जैन ने लिखा है कि– "मथुरा के कङ्काली टीले पर एक स्तूप के ध्वंसावशेष प्राप्त हुये हैं। आचार्य जिनप्रभसुरि ने इस स्तूप के सम्बन्ध में विविधतीर्थकल्प में लिखा है की इस स्तूप को कुबेरादेवी ने सुपार्श्वनाथ के काल में सोने का बनाया था और उस पर सुपार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित की थी। फिर पार्श्वनाथ के काल में उसे ईटों से ढक दिया। आठवीं शताब्दी में बप्पभट्टसुरि ने इसका जीर्णोद्धार किया था, किन्तु सोमदेव सूरि ने यशस्तिलक चम्पू (6/17-18) में एवं हरिषेण कथाकोश में वज्रकुमार की कथा के अन्तर्गत इस स्तूप को वज्रकुमार के निमित्त विद्याधरों द्वारा निर्मित बताया है। आचार्य सोमदेव ने तो उस स्तूप के दर्शन भी किये थे और उसे देवनिर्मित लिखा है। इस स्तूप का जीर्णोद्धार साहू टोड़र ने भी किया था, इस प्रकार की सूचना कवि राजमल्ल ने जम्बूस्वामी चरित्र में दी है। उन्होंने भी इस स्तूप के दर्शन किये थे। उस समय वहाँ 514 स्तूप थे।"[20]

आगे उन्होंने लिखा है कि– "कुषाणकाल का एक आयागपट्ट मिला है, उसमें भी इस स्तूप को देवनिर्मित लिखा है।"[21] पं. बलभद्र जैन के उपर्युक्त कथन का समर्थन अमलानन्द घोष ने भी किया है।[22]

प्रो. रमेशचन्द्र शर्मा ने एक मान्यता के आधार पर लिखा है कि सर्वप्रथम एक ही मूल स्तूप था, कालान्तर में उनकी सख्या 5 हुई तदनन्तर छोटे-छोटे 527 स्तूप बन गये, जिनकी पूजा 17वीं शताब्दी तक होती रही। 1583 ई. में साहु टोडर द्वारा 514 स्तूपों की प्रतिष्ठा की गई।[23]

भगवान् सुपार्श्वनाथ के सेवक यक्ष का नाम परनन्दी और यक्षिणी का नाम काली है।[24]

सुपार्श्वनाथ की प्राचीन मूर्तियाँ :

श्री गोकुलचन्द दिगम्बर जैन मन्दिर ग्वालियर (म.प्र.) में भगवान् सुपार्श्वनाथ की एक मूर्ति विराजमान है, जिसकी प्रतिष्ठा वि.स. 1125 में हुई भी।[25] इसी प्रकार बदनावर से प्राप्त भगवान् सुपार्श्वनाथ की एक प्रतिमा जयसिंहपुरा पुरातत्त्व संग्रहालय उज्जैन में मूर्ति क्रमाङ्क 165 में उपलब्ध है। इसकी प्रतिष्ठा वि.स. 1222 में हुई थी।[26]

सुपार्श्वनाथ की जन्मभूमि काशी :

भगवान् सुपार्श्वनाथ की जन्मभूमि काशी के एक मुहल्ले भदैनी में है। भदैनी भद्रावनि अथवा भद्रवन का भ्रष्ट रूप है। भदैनी में भगवान् सुपाश्वर्वनाथ के कुल तीन मन्दिर हैं, जिनमें एक श्वेताम्बर मन्दिर है और शेष दो दिगम्बर मन्दिर। दोनों दिगम्बर मन्दिरों में से एक मन्दिर छेदीलाल के मन्दिर के नाम से प्रसिद्ध है और दूसरा मन्दिर बाबू सुबोधकुमार जैन आरा (बिहार) के पूर्वजों द्वारा निर्मित है। यहीं पूज्य क्षुल्लक गणेश प्रसाद वर्णी द्वारा स्थापित श्री स्याद्वाद महाविद्यालय है, जहाँ से सैकड़ों जैन विद्वान तैयार हुये हैं। यह विद्यालय अपने स्थापना

काल के सौ वर्ष पूर्ण कर चुका है उपर्युक्त तीनों मन्दिर पास-पास स्थित हैं तथा तीनों ही भगवान् सुपार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप और ज्ञान-इन चार कल्याणकों के लिये प्रसिद्ध हैं किन्तु बाबू सुबोधकुमार जैन के पूर्वजों द्वारा निर्मित एवं श्री स्याद्वाद महाविद्यालय से सटे हुये मन्दिर में छतरी है और प्राचीन चरण भी, अतः जनसामान्य की दृष्टि में यही दिगम्बर जैन मन्दिर भगवान् सुपार्श्वनाथ की जन्मभूमि के रूप में प्रसिद्ध है।

सुपार्श्वनाथ की निर्वाणभूमि सम्मेद शिखर :

श्री सम्मेद शिखर चौबीस तीर्थङ्करों में से बीस तीर्थङ्करों एवं अन्य करोड़ो मुनिराजों की निर्वाणभूमि है। यह 'पार्श्वनाथ हिल' के नाम से भी विख्यात है। क्योंकि तैइसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ की निर्वाण स्थली टोंक/चोटी सबसे ऊँची है। इसकी उपत्यका (तलहटी) में बसा हुआ कस्बा मधुवन कहलाता है। जहाँ पहाड़ के ऊपर विविध तीर्थङ्करों के चरण चिह्न हैं, वहीं मधुवन में अनेक मन्दिर हैं जो गगनचुम्बी शिखरों से युक्त हैं। यहाँ अनेक संस्थाओं के विशाल भवन भी हैं। यह स्थान पारसनाथ स्टेशन अथवा ईसरी से लगभग बीस किलोमीटर दूर है मघुवन जाने का रास्ता एवं पर्वतराज का दृश्य बड़ा ही मनोहर है।

इस पर्वत की सबसे ऊँची चोटी सम्मेद शिखर कहलाती है। यह शब्द सम्भेद शिखर का रूपान्तर प्रतीत होता है। इसकी निष्पत्ति सम् मद अर्थ में क अथवा अच् प्रत्यय करने पर हर्ष या हर्षयुक्त होगा। कुछ लोगों का अनुमान है कि जैन श्रमण इस पर्वत पर तपस्यायें किया करते थे, इसलिए इस पर्वत की ऊँची चोटी का नाम समण शिखर से सम्मेद शिखर हो गया।[27]

इस पर्वत से अन्य उन्नीस तीर्थङ्करों एवं करोड़ों मुनिराजों के अलावा प्रभासकूट से तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ ने निर्वाण प्राप्त किया है, अतः यह भूमि धन्य है। प्रणम्य है।

भाव सहित इस क्षेत्र के दर्शन-पूजन करने से 49 भव में नियम से

निर्वाण प्राप्त होता है तथा नरक और तिर्यञ्च गति का बन्ध नहीं होता है।[28]

अन्त में मात्र इतना ही कहना है कि – जो पहले भव में क्षेमपुर नगर के स्वामी तथा सबके द्वारा स्तुति करने योग्य नन्दिषेण राजा हुये। फिर तप कर नव ग्रैवेयकों में से मध्य के ग्रैवेयक में अहमिन्द्र हुये, तदनन्तर बनारस नगरी में शत्रुओं को जीतने वाले और इक्ष्वाकु कुल के तिलक महाराजा सुपार्श्व हुये वे सप्तम तीर्थङ्कर आप सबकी रक्षा करें।[29]

सन्दर्भ:

1. जैनधर्म का प्रचीन इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 129, 2. (क) जैनधर्म का प्राचीन इतिहास प्रथम भाग, पृष्ठ 128, 3 (ख) भगवान् महावीर और उनका तत्त्व दर्शन, पृष्ठ 215-218, 4. वही, पृष्ठ 216, 5. वही, पृष्ठ 217, 6. वही, पृष्ठ 217, 7. वही, पृष्ठ 217, 8. ग्रन्थराज ध्यानतीर्थ श्री सम्मेद शिखर जी, पृष्ठ 137, 9. वही, पृष्ठ 137, 10. श्री बनारस पार्श्वप्रभु प्रतिष्ठा महोत्सव स्मारिका-2000, पृष्ठ 21, 11. जिनरत्नकोश, पृष्ठ 445, 12. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग 6, पृष्ठ 81-82, 13. जिनरत्नकोश, पृष्ठ 445, 14. जिनरत्नकोश, पृष्ठ 445, 15. स्तुतिविद्या, पद्य 29, 16. (क) श्री चतुर्विंशति सन्धान महाकाव्य, पद्य 7, 16. (ख) जिनरत्नकोश, पृष्ठ 445, 17. जैन भारती (वीतराग वन्दना विशेषाङ्क), वर्ष 42 अङ्क 9-10 सित.-अक्टू. 94 पृष्ठ 7, 18. (क) जैन पूजा-काव्य . एक चिन्तन, पृष्ठ 381, (ख) जिनेन्द्र पूजाञ्जलि, पृ.112, 19. जैन पूजा काव्य : एक अनुचिन्तन, पृष्ठ. 252, 20. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 129, 21. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 129, 22. जैन कला एवं स्थापत्य, पृष्ठ 52, 23. मथुरा का सांस्कृतिक जैन पुरा वैभव, पृष्ठ 23, 24. जैनधर्म का प्राचीन इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ 129, 25. भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख, पृष्ठ 54, 26. भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख, पृष्ठ 191, 27. भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन, पृष्ठ 516, 28. भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन, पृष्ठ 517, 29. भगवान् महावीर और उनका तत्त्वदर्शन, पृष्ठ 218

प्रोफसर-जैनदर्शन
संस्कृत विद्या एवं धर्म विज्ञान संकाय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी

ब्रह्मचर्यदर्शन और उसकी सामाजिक उपयोगिता

– डॉ. अशोककुमार जैन

व्यक्ति को निराकुल और शुद्ध बनाने के लिए भगवान महावीर ने अहिंसा, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह पर बहुत बल दिया और बताया कि जब तक मनुष्य प्राणिमात्र के साथ आत्मतुल्यता की भावना नहीं बनाता, सब प्राणियों को अपने ही समान जीने का अधिकार नहीं मानता तब तक उसके मन में सर्वोदयी अहिंसा का विकास नहीं हो सकता। वासनाओं पर विजय पाना ही सच्ची शुद्धि है और उसकी कसौटी है ब्रह्मचर्य की पूर्णता। भगवती आराधना में लिखा है–

जीवो बंभा जीवम्मि चेव चरिया हविज्ज जा जदिणो।
तं जाण बंमचेरं विमुक्कपरदेहतित्तिस्स। –गाथा 878

ब्रह्म में रमण करना ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म शब्द का अर्थ जीव है अर्थात् ज्ञान-दर्शन रूप से जो वृद्धि को प्राप्त हो वह ब्रह्म है। जीव ही इन गुणों से वर्धमान होता है इसलिए यह जीव-आत्मा ही ब्रह्मस्वरूप है। ब्रह्म का अर्थ व्यापी भी होता है। समुद्घातावस्था में जीव-आत्मा ही तीन लोक में व्याप्त होता है अतः आत्मा ही ब्रह्म है। चर्य-चरण रमण करना अर्थात् अपने ही स्वभाव-ज्ञान दर्शनरूप आत्मा में रमण करना। मूलाचार में लिखा है–

मादुसुदाभगिणीय दट्ठूणित्थित्तिय च पडिरूवं।
इत्थिकहादिणियंत्ती तिलोयपुज्जं हवे बंभं।। गाथा 8

तीन प्रकार की स्त्रियों को और उनके प्रतिरूप (चित्र) को माता, पुत्री और बहिन के समान देखकर जो स्त्रीकथा आदि से निवृत्ति है वह तीन लोक में पूज्य ब्रह्मचर्य व्रत कहलाता है।

पद्मनन्दि पञ्चविंशतिका में भी बताया है–

आत्मा ब्रह्म विविक्तबोधनिलयो यत्तत्र चर्या परं।
स्वाङ्गसंगविवर्जितैकमनसस्तद् ब्रह्मचर्यं मुनेः।।

एवं सत्यबला स्वमातृभगिनी पुत्रीसमाः प्रेक्षते।
वृद्धाद्या विजितेन्द्रियो यदि तदा स ब्रह्मचारी भवेत्।।12/2

ब्रह्म शब्द का अर्थ निर्मल ज्ञानस्वरूप आत्मा है, उस आत्मा में लीन होने का नाम ब्रह्मचर्य है। जिस मुनि का मन अपने शरीर के भी सम्बन्ध में निर्ममत्व हो चुका है उसी के वह होता है। ऐसा होने पर यदि इन्द्रियविजयी होकर वृद्धा, युवती, बाला आदि स्त्रियों को क्रमशः अपनी माता, बहिन और पुत्री के समान समझता है वह ब्रह्मचारी होता है।

व्यवहार और निश्चय की अपेक्षा ब्रह्मचर्य के दो भेद है। इनमे मैथुन क्रिया के त्याग को व्यवहार ब्रह्मचर्य कहा जाता है वह भी अणुव्रत और महाव्रत के भेद से दो प्रकार का है। अपनी पत्नी को छोड़कर शेष सब स्त्रियों को यथायोग्य माता, बहिन और पुत्री के समान मानकर उनमें रागपूर्ण व्यवहार न करना, इसे ब्रह्मचर्याणुव्रत अथवा स्वदारसन्तोष भी कहा जाता है तथा शेष स्त्रियों के समान अपनी पत्नी के विषय में भी अनुरागबुद्धि न रखना, यह ब्रह्मचर्य महाव्रत कहलाता है, जो मुनि के होता है। अपने विशुद्ध आत्मस्वरूप में ही रमण करने का नाम निश्चय ब्रह्मचर्य है। यह उन महामुनियों के होता है जो अन्य बाह्य पदार्थों के विषय में तो क्या, किन्तु अपने शरीर के भी विषय में निस्पृह हो चुके है।

आचारांग में लिखा है एतेसु चेव बंभचेरं ति बेमि।। 5/35 अर्थात् परिग्रह का संयम करने वालों में ही ब्रह्मचर्य होता है, ऐसा मैं कहता हूँ। ब्रह्मचर्य के तीन अर्थ हैं– आत्मरमण, उपस्थसंयम–मैथुनविरति तथा गुरुकुलवास। पदार्थों के प्रति आसक्त व्यक्ति आत्म रमण नहीं कर सकता। जिस व्यक्ति का पदार्थ के प्रति आकर्षण होता है, उसके लिए ब्रह्मचर्य का पालन सुकर नहीं होता है। जो व्यक्ति पदार्थ के प्रति असंयत होता है, उसका गुरुकुल में रहना सुशक्य नहीं होता। इसका तात्पर्य है कि अपरिग्रही पुरुष ही ब्रह्मचर्य की साधना में समर्थ होता है।

दशवैकालिक में कहा है–

अबंभयरियं घोरं, पमायं दुरहि ड्डियं।
नायरंति मुणी लोए, भेयाययणवज्जिणो।। अ. 6/15

अब्रह्मचर्य लोक में प्रमाद जनक और दुर्बल व्यक्तियों द्वारा आसेवित है। चारित्र-भंग के स्थान से बचने वाले मुनि उनका आसेवन नहीं करते। आगे और भी लिखा है-

मूलमेय महम्मस्स, महादोससमुस्सयं।
तम्हा मेहुणसंसग्गिं, निग्गथा बज्जयत्ति णं।।अ. 6/16

यह अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और महान दोषों की राशि है, इसलिए निर्ग्रन्थ मैथुन संसर्ग का वर्जन कहते है। पॉच पापों में एक अब्रह्म भी है। तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है- 'मैथुनमब्रह्म' अर्थात मैथुन अब्रह्म है। स्त्री और पुरुष का जोड़ा मिथुन कहलाता है और राग परिणाम से युक्त होकर इनके द्वारा की गई स्पर्शन आदि क्रिया मैथुन है। यह मैथुन ही अब्रह्म है। यद्यपि यहां मिथुन शब्द से स्त्री और पुरुष का युगल लिया गया है तथापि वे सभी सजातीय और विजातीय जोड़े जो कामसेवन के लिए एकत्र होते हैं मिथुन शब्द से अभिप्रेत हैं।

अब्रह्म के भेदों को निरूपित करते हुए 'भगवती आराधना' में लिखा है-

इच्छिविसयाभिलासो वच्छिविमोक्खो य पणिदरससेवा।
संसत्तदव्वसेवा तदिंदियालोयणं चेव।।
सक्कारो संकारी अदीदसुमरणागदभिलासे।
इष्ट्ठविसय सेवा विय अव्वंभ दसविहं एदं।।

1. स्त्री सम्बन्धी जो इन्द्रिय विषय उनकी अभिलाषा करना अर्थात् उनका सौन्दर्य, अधर रस, मुख का गंध, मनोहर गायन, मधुर हास्य, भाषण, शरीर का मृदु स्पर्श, उनका सहवास, सह गमन और सुन्दर अङ्गावलोकन ये अब्रह्म हैं।

2. अपने इन्द्रिय लिङ्ग में विकार होना-स्थिर व दृढ़ होना वत्थि विमोक्ख है।

3. स्त्रियों की शय्यादि पदार्थो का सेवन करना, उनका उपभोग करना। जिस प्रकार स्त्री का संभोग कामियों को प्रीतिकर होता है उसी प्रकार उनकी

शय्यादि भी उन्हें हर्षोत्पादक होती है। यह संसक्त द्रव्य सेवा है।

4. स्त्रियों के सुन्दर अंगों का अवलोकन तदिन्द्रियावलोकन है।
5. शरीर में बल–वीर्य वर्द्धक, पुष्टिकारक, गरिष्ठ आहार और रसों का सेवन करना वृष्य रस सेवा है।
6. स्त्रियों का सत्कार करना, उनके शरीर पर प्रेमासक्त हो उन्हें पुष्पहार, वस्त्रादि देकर प्रसन्न करना, उनका सम्मान करना, अलङ्कारादि प्रदान करना।
7. अतीत काल में भुक्त स्त्री सम्भोग रतिक्रीडा का स्मरण करना।
8. भविष्य में उनके साथ ऐसी-ऐसी क्रीड़ायें करूँगा इस प्रकार की अभिलाषा रखना
9. इष्ट विषय सेवा अर्थात् मनोभिलाषा सौध, उद्यान आदि का उपयोग करना।
10. जिसके रागभाव प्रबल है, ऐसे पुरुषों की संगति करना, उनके द्रव्यों का सेवन करना।

उपर्युक्त 10 अब्रह्म के भेद हैं। इसके विपरीत ज्ञान, श्रद्धान और वीतरागता वर्द्धक गुणों में प्रवृत्ति करना ब्रह्मचर्य है।

ब्रह्मचर्य किसी प्रकार का बाहरी दबाव का बन्धन नहीं, अपितु मन का संयम है। इस संयम को महत्त्व देते हुए जैन परम्परा में असीम कामनाओं को सीमित करने हेतु विवाह को स्वीकार किया है। विवाह संयम की ओर अग्रसर होने का महत्त्वपूर्ण चरण है और पाशविक जीवन से निकल कर नीतिपूर्ण मर्यादित मानव जीवन को अंगीकार करने का साधन है किन्तु इसमें वेश्यागमन एवं परदार सेवन के लिए कोई स्थान नहीं है बल्कि मैथुन सेवन को अधर्म का मूल और बड़े बड़े दोषों को बढाने वाला कहा है। अणुव्रतों के अन्तर्गत ब्रह्मचर्याणुव्रत के सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र ने लिखा है–

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत्।
सा परदारनिवृतिः स्ववदारसन्तोषनामापि।।

- रत्नकरण्ड श्रावकाचार 3/13

अर्थात् जो पाप के भय से परस्त्रियों के प्रति स्वयं गमन करता है और न दूसरों को गमन कराता है वह परस्त्रीत्याग अथवा स्वदारसन्तोष अणुव्रत है।

आचार्य अमृतचन्द्र ने भी लिखा है

ये निजकलत्रपात्रं परिहर्तुं शक्नुवन्ति न हि मोहात्।
निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्।।

– पुरुषार्थ सिध्युपाय।।

अर्थात् जो जीव मोह के कारण अपनी विवाहिता स्त्रीमात्र को छोड़ने को निश्चय में समर्थ नहीं है उन्हें अवशेष स्त्रियों का सेवन तो अवश्य ही नहीं करना चाहिए।

धर्मामृत(सागार) में वर्णन है–

सोऽस्ति स्वदारसन्तोषी योऽन्यस्त्रीप्रकटस्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति भिया।।

जो गृहस्थ पाप के भय से परस्त्री और वेश्या को मन, वचन, काय और कृत, कारित, अनुमोदन से न तो स्वयं सेवन करता है और न दूसरे पुरुषों से सेवन कराता है वह स्वदारसन्तोषी है।

आत्मा के विकास में विषय–भोग प्रबल रूप से बाधक है। आचार्य गुणभद्र स्वामी कहते है–

शरीरमपि पुष्णन्ति सेवन्ते विषयानपि।
नास्त्यहो दुष्करं नृणां विषाद्वाञ्छति जीवितम्।।

- आत्मानुशासन 169

मनुष्य सदा ही शरीर को पोषते हैं तथा विषय भोगों को भोगते रहते हैं। इससे बढकर और खोटा कृत्य क्या होगा वे विष पीकर जीवन चाहते हैं।

आचार्य सोमदेवसूरि लिखते हैं–

विषवद्विषयाः पुसामापाते मधुरागभाः।
अन्ते विपत्तिफलदास्तत्सतामिह को ग्रहः।
देहद्रविणसंस्कारसमुपार्जनवृत्तयः।
जितकाये वृथा सर्वास्तत्कामः सर्वदोषभाक्।।

- उपासकाध्ययन 410, 415

विष के समान विषय प्रारम्भ में मीठे लगते है किन्तु अन्त में विपत्ति में डालते है अतः विषयों में सज्जनों का आग्रह कैसा। जिसने काम को जीत लिया उसका शरीर संस्कार, धनोपार्जन आदि व्यर्थ है– क्योंकि इन सबकी जड़ स्त्री संभोग दुःख का कारण है– योग शास्त्र में वर्णन है–

स्त्री संभोगेन यः कामज्वरं प्रतिचिकीर्षति।
स हुताशं धृताहुत्या विध्यापयितुमिच्छति।। 2/81

जो स्त्री-संभोग के द्वारा कामज्वर को रोकना चाहता है वह घी की आहुति से अग्नि को शान्त करना चाहता है। पंडित आशाधर जी ने भी कहा है–

सन्तापरूपो मोहाङ्गसादतृष्णानुबन्धकृत्।
स्त्रीसम्भोगस्तथाप्येष सुखे चेत्का ज्वरेऽक्षमा।।

- सागार धर्मामृत 53

स्त्री संभोग और ज्वर दोनों समान हैं। स्त्री संभोग से पित्त कुपित हो जाता है वह सन्ताप पैदा करता है और ज्वर तो सन्तापकारी होता ही है। उसमें समस्त शरीर तपता है। हित, अहित का ज्ञान न रहने को मोह कहते है कामी को जब काम सताता है तो उसे हित अहित की बात समझमें नहीं आती। ज्वर में भी ऐसी दशा होती है। संभोग भी शरीर की सहनशीलता को नष्ट करता है और ज्वर भी। स्त्री सम्भोग से तृष्णा बढती है। और ज्वर से भी तृष्णा अर्थात् प्यास बढती है। आयुर्वेद मे कहा है स्त्रीसम्भोग से पित्त प्रकुपित हो जाता है। जिनसेन आचार्य ने लिखा है

क्षारमम्बु तथा पीत्वा तृष्यत्यतितरां नरः।
तथा विषयसंभोगैः पर संतर्षमृच्छति।। महापुराण 11/165

जैसे चित्त को मोहित करने से शरीर को शिथिल बनाने से, तृष्णा (प्यास) को बढाने से और सन्तापकारक होने से ज्वर सुख रूप नहीं है वैसे ही स्त्री-संभोग भी सुखरूप नहीं है तथा जैसे खारे जल को पीने से मनुष्य की प्यास बढती है वैसे ही विषय सम्भोग से परम तृष्णा सताती है। महर्षि पतञ्जलि ने 'योगदर्शन' में ब्रह्मचर्य के महत्व का प्रतिपादन करते हुए बताया है ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। ब्रह्मचर्य की पूर्ण साधना करने पर अपूर्व मानसिक शक्ति और बल प्राप्त होता है।

बौद्ध परम्परा में ब्रह्मचर्य का महत्व स्वीकार किया गया है धम्मपद में लिखा है-

चन्दनं तगरं वापि उप्पलं अथ वस्सिको।
एतेसं गंधजातानं सीलगंधो अनुत्तरो।। 4/12

अगरु और चन्दन की सुगंध फैलती है, वह सुगन्ध तो बहुत ही अल्प मात्रा में होती है पर ब्रह्मचर्य (शील) की ऐसी सुगन्ध है जो देवताओ के दिल को भी लुभा देती है। वह सुगन्ध इतनी व्यापक होती है कि मानव लोक में तो क्या देवलोक में भी व्याप्त हो जाती है।

विशुद्धिमग्ग में लिखा है-

सीलगंधसमो गंधो कुतो नाम भविस्सति
यां समं अनुवातं च परिवाते च वायति।।
सम्माराहण सोपानं अंञ्ञं सील समंकुतो।
द्वारं वा पन निब्बान नगस्स पवेसने।। परिच्छेद।

शील की गंध के समान दूसरी गंध कहां होगी? दूसरी गंध तो जिधर हवा का रुख होता है उधर ही बहती है पर शील की गंध ऐसी गंध है जो विपरीत हवा में भी उसी तरह से बहती है जैसी प्रवाह में बहती है। उसमें यह भी कहा है कि यदि किसी को स्वर्ग के उच्च स्थल पर पहुचना

है तो ब्रह्मचर्य के समान उस स्थल पर पहुंचने के लिए अन्य कोई सीढी नहीं।

बौद्ध त्रिपिटक साहित्य के अनुशीलन से यह भी परिज्ञात है कि यहां पर 'ब्रह्मचर्य' तीन अर्थो में व्यवहृत हुआ है। दीघ निकाय पोट्ठपाद में उसका अर्थ बौद्ध धर्म में निवास है जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य का तीसरा अर्थ मैथुन विरमण है।

ब्रह्मचर्य की रक्षा के उपायों को आगम साहित्य में 'गुप्तियाँ' और 'समाधि और स्थान' भी कहा गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में उनके नौ भेद बताये है जो इस प्रकार हैं-

1. विविक्त शयनासन- ब्रह्मचारी ऐसे स्थान पर शयन आसन करे जो स्त्री, पुरुष, नपुंसक से संयुक्त न हो।
2. स्त्री कथा परिहार- स्त्रियों की सौन्दर्य वार्ता, कथा वार्ता आदि की चर्चा न करे।
3. निषद्यानुपसेवन- स्त्री के साथ एकासन पर न बैठे । उसके उठ जाने पर भी एक मुहूर्त तक उस स्थान पर न बैठे।
4. स्त्री अंगोपांग अदर्शन- स्त्रियों के मनोहर अंग-उपांग न देखे, यदि कदाचित् उस पर दृष्टि चली जाय तो पुनः हटा ले फिर उसका ध्यान न करे।
5. कुडयान्तर शब्द श्रवणादिवर्जन- दीवार आदि की आड़ से स्त्रियों के शब्द गीत रूप आदि न सुने, न देखे।
6. पूर्व भोग स्मरण वर्जन- पहले भोगे हुए भोगों का स्मरण न करे।
7. प्रणीत भोजन-त्याग- विकारोत्पादक गरिष्ठ भोजन न करे।
8. अतिपमात्र भोजन त्याग- रूखा-सूखा भोजन भी अधिक मात्रा में न किया जाये।
9. विभूषण विवर्जन- शरीर की सजावट न करे।

पण्डित प्रवर आशाधर ने ब्रह्मचर्य के दस नियमों का उल्लेख किया है–

1. रूप, रस, गंध, स्पर्श, और शब्द के रस का पान करने की लालसा ब्रह्मचारी में नहीं हो।
2. वह इस प्रकार के कार्य न करे जिससे लिंग में विकार होने की संभावना हो।
3. ब्रह्मचारी कामोद्‌दीपक आहार न ग्रहण करे।
4. महिलाओं द्वारा उपभोग किये हुए शयन, आसन आदि का उपयोग न करे।
5. स्त्री के गुप्ताङ्ग पर दृष्टि न डाले।
6. अनुरागवश स्त्री का सत्कार न करे।
7. शरीर का संस्कार न करे।
8. पूर्व सेवित रति का स्मरण न करे।
9. आगामी भोग की इच्छा न करे।
10. इष्ट रूपादि में मन को संयुक्त न करे।

भर्तृहरि लिखते हैं–

मत्तेभकुम्भदलने भुवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रमीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पलने विरला मनुष्याः॥ - श्रृंगारशतक 58

इस पृथ्वी पर मदोन्मत्त गजराज का कुम्भस्थल दलन करने वाले बहुत से शूरवीर विद्यमान है और ऐसे ही प्रचण्ड मृगराज सिंह का बध करने वाले मनुष्य भी बहुत मिल सकते है, परन्तु बलवानों के समक्ष हम वह बात जोर देकर कह सकते है कि कामदेव का गर्वभंजन करने वाले बिरले ही मनुष्य होंगे। प्रशमरति प्रकरण में लिखा है

सम्यग्दृष्टिज्ञानी विरतितपोध्यानभावनायोगैः।
शीलाङ्गसहस्त्राष्टाशकमयत्नेन साधयति॥ 245

धर्म, पृथ्वीकाय बगैरह, इन्द्रियां, संज्ञा, कृत, कारित, अनुमोदना और मन, वचन, काय के मेल से शील के अठारह हजार अंगों की उत्पत्ति होती है।

ब्रह्मचर्य से मानव का जीवन तेजयुक्त एवं प्रभावी बनता है नैतिक समाज की स्थापना में इस व्रत की महत्वपूर्ण भूमिका है। ब्रह्मचर्य की साधना करने वाला साधक शारीरिक और मानसिक दोनों प्रकार की शक्तियों को सुरक्षित रखता है।

भाव पाहुड़ में दसविध अब्रह्म का त्याग कर नवविध ब्रह्मचर्य पालन के सम्बन्ध में लिखा है–

णवविहबंभं पयडहि अब्बंभं दसविहं पमोत्तूण।
मेहुणसण्णसत्तो भमिओसि भवण्णवे भीमे॥ भावपाहुड़ 96

हे आत्मन्! दस प्रकार के अब्रह्म का त्याग कर नवविध ब्रह्मचर्य भाव को प्रकट कर। क्यों कि तू मैथुनभाव में आसक्त होकर भयकारक संसार समुद्र में भ्रमण कर रहा है।

जैसे खेत में स्थित धान्य की रक्षा के लिए बाड़ लगाई जाती है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य व्रत की रक्षा के लिए शील की नौ बाड़ है वे इस प्रकार है–

1. स्त्री विषयक अभिलाषा न करना– क्योंकि अभिलाषा के बाद ही कुकार्य की परिणति होती है। अतः कुभावना की जड़ का नाश करने के लिए स्त्री विषय सम्बन्धी अभिलाषा का त्याग करना आवश्यक है।
2. अंग विमोक्ष– काम के साधनभूत अंगो को उत्तेजित न करना।
3. गरिष्ठ कामोत्पादक रसों के सेवन का त्याग– जिह्वा इन्द्रिय के स्वच्छन्द होने पर सारी इन्द्रियां स्वच्छन्द होती है।
4. संमक्तद्रव्य सेवात्याग– स्त्रियों के द्वारा सेवित सम्बन्धित वस्त्र, चटाई, चौकी आदि का अपने लिए प्रयोग नहीं करना।

5. स्त्रीअवलोकन त्याग– स्त्रियों के अंगोपांग को राग भाव से नहीं देखना। शरीर अशुचि है, अपवित्र है ऐसा विचार करना।
6. पूजनीय स्त्री सत्कार पुरस्कार त्याग– रागभाव पूर्वक स्त्रियों का सत्कार–पुरस्कार नही करना माता, बहिन, धार्मिक भेषधारी आर्यिका, क्षुल्लिका आदि का विनय करने का त्याग नहीं है। क्योंकि काम, राग, रस, से युक्त होकर सत्कार पुरस्कार करना निषेध है।
7. अतीत भोग स्मरण त्याग– पूर्व समय में भोगे हुए भोगों का स्मरण नहीं करना क्यों कि अतीत काल के भोगों का स्मरण करने से परिणाम मलिन होकर ब्रह्मचर्य व्रत के घात का अवसर आ सकता है।
8. अनागत विषयाभिलाषा त्याग– भविष्यत् काल सरबन्धी भोगों की अभिलाषा नहीं करना।
9. पंचेन्द्रिय विषय सम्बन्धी इष्ट विषय सेवन का त्याग– पंचेन्द्रिय विषय सम्बन्धी इष्ट पदार्थों का सेवन करने से इन्द्रियां और मन स्वच्छन्द हो जाते हैं।

भाव पाहुड़ में मुनि को अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणों के पालन करने हेतु लिखते हैं–

सीलसहस्सट्ठारस चउरासी गुणगणाण लक्खाइं।
भावहि अणुदिणु णिहिलं असप्पलावेण किं बहुणा॥

हे मुने! (हे आत्मन्) अधिक प्रलाप करने से क्या लाभ है? तू प्रतिदिन सम्पूर्ण अठारह हजार शील और चौरासी लाख उत्तर गुणों की निरन्तर भावना कर, रातदिन उनका चिन्तन, स्मरण एवं पालन कर।

दुर्भावनाओं का विनाश करके सद्भावनाओं का चिन्तन शील कहलाता है। इन शील का वर्णन दो प्रकार से है। एक अहिंसात्मक परिणति दूसरी ब्रह्मचर्य व्रत का पालन। इन दोनों का परस्पर सामंजस्य है क्योंकि अहिंसात्मक परिणति से ही ब्रह्मचर्य व्रत का पालन होता है और ब्रह्मचर्य व्रत के पालन से अहिंसा की सिद्धि होती है। ब्रह्मचर्य व्रत का

घात होने में मन, वचन, काम की दुर्भावना, संज्ञाओं का प्रादुर्भाव, दसधर्म का घात, एकेन्द्रिय आदि जीवों की विराधना और पंचेन्द्रिय विषयों में प्रवृति होती है। अतः इन दोनों प्रकार के शीलों के भेदों का परस्पर सम्बन्ध है।

अथवा शील का अर्थ स्वभाव, उस उस स्वभाव की घातक मन, वचन कायिक क्रिया का नाम है कुशील, उन क्रियाओं के त्याग को कहते हैं शील। मुख्यतया अभेदरूप से स्वभाव में रमण करना ही शील है। उसको विशेष रूप से समझाने के लिए 18000 भेद किये हैं।

18000 शीलों का अहिंसात्मक परिणाम की अपेक्षा भेद इस प्रकार हैं

अशुभ मन, वचन, काय योग को शुभ मन, वचन और काय से नष्ट करने से शील के नौ भेद हैं। इन नौ भेदों को आहार, भय, मैथुन और परिग्रह संज्ञा इन चार से गुणा करने पर शील के 36 भेद होते है क्योंकि संज्ञा भी आत्मस्वभाव की घातक है। इन 36 प्रकार के शील के भेदों को स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण इन्द्रिय विजय के द्वारा गुणा करने पर 180 शील के भेद होते है अर्थात् भावेन्द्रिय आत्मा का उपयोग(ज्ञान) है वह उपयोग अपने जानने देखने स्वभाव को छोड़कर बाह्य पदार्थों में लीन हो गया है, इन्द्रिय द्वार से चार संज्ञाओं में जा रहा है, उसको रोककर अपने स्वभाव में लाने की चेष्टा करना शील कहलाता है।

पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, दो इन्द्रिय त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, सैनी, असैनी पंचेन्द्रिय इन दस प्रकार के जीवों पर अनुकम्पा करना, यह शील है। इसलिए 180 भेदों को दस प्रकार के जीवों के दया भाव से गुणा करने पर शील के 18000 भेद होते हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, असत्य, असंयम, अतप, अत्याग, परिग्रह में प्रवृत्ति और अब्रह्म ये आत्मस्वभाव के घातक हैं। अतः उत्तम क्षमादि दसधर्म के लक्षण के द्वारा क्रोधित विभाव भावों का विनाश कर अपने स्वरूप को उपयोग में स्थिर करना शील है। मुनि इन 18000 शीलों का स्मरण चिंतन, मनन करके अपने स्वभाव में स्थिर होने का प्रयत्न करे।

ब्रह्मचर्य की मुख्यता से शील के भेद– सत्रह हजार दो सो

अस्सी(17280) भेद चैतन्य स्त्री सम्बन्धी है तथा सात सौ बीस(720) अचैतन्य स्त्री सम्बन्धी भेद हैं। दोनो को मिलाने से 18000 शील के भेद होते हैं वे इस प्रकार है–

अचेतन स्त्री तीन प्रकार की है– काठ की बनी हुई, पाषाण (पत्थर) की मूर्ति और लेप, रंग आदि से लिखित स्त्री। इन तीनों अचेतन स्त्रियों का स्पर्श और मानसिक अनुराग रूप काय, मन, से गुणा करने पर कुशील के छह भेद होते है। इन अचेतन स्त्रियों के साथ वाचनिक प्रवृत्ति नहीं होती। इन छह विकारों को कृत, कारित, अनुमोदना से करने पर 18 भेद होते है। इन 18 दुर्भावनाओं को स्पर्शन आदि पांच इन्द्रियों से करने पर 90 भेद होते है। इन 90 भेदों को द्रव्य और भाव से गुणा करने पर 180 भेद हुए। इन 180 भेद रूप कुशील का सेवन क्रोध, मान, माया, और लोभरूप चार कषाय के वशीभूत होकर किये है अतः अचेतन स्त्री सम्बन्धी कुशील के 720 भेद होते है।

चैतन्य सम्बन्धी कुशील के भेद इस प्रकार हैं– चैतन्य स्त्री तीन प्रकार की हैं देवी, मानुषी और तिर्यञ्चनी। नरक में स्त्री नहीं होती। इन तीन प्रकार की चेतन स्त्री सम्बन्धी दुर्भावना करना, कराना और करने वालों की अनुमोदना करने की अपेक्षा नौ भेद हैं– और इन नौ भेदों को मन, वचन, काय, से गुणा करने पर 27 भेद होते है। इन 27 प्रकार के विकार भाव, पंचेन्द्रिय से सम्बन्धित है। स्पर्श आदि की भावनाओं के कारण इनका आहारादि चार संज्ञाओं से गुणा करने पर 1080 भेद होते है। इन एक हजार अस्सी कुशीलों में प्रवृत्ति कषाओं के कारण होती है और कषाय 16 है 1080 भेदों को कषायों से गुणा करने पर कुशील के 17 280 भेद होते हैं। ये चेतन स्त्री सम्बन्धी विकारों के भेद हैं। इनमें अचेतन स्त्री सम्बन्धी 720 भेद मिला देने पर कुशील के 18000 भेद होते हैं। इन 18000 कुशील का (विभाव भावों का) त्याग कर अपने स्वरूप में रमण काल 18000 शील के भेद हैं।

ब्रह्मचर्य व्रत का सामाजिक महत्व – ब्रह्मचर्य भावना आत्मा की आन्तरिक शक्ति है और इसके द्वारा सामाजिक क्षमताओं की वृद्धि की

जाती है। वास्तव में ब्रह्मचर्य की साधना वैयक्तिक और सामाजिक दोनों ही जीवनों के लिए एक उपयोगी कला है। यह आचार-विचार और व्यवहार को बदलने की साधना है।

आचरण का पतन जीवन का पतन है और आचरण की उच्चता जीवन की उच्चता है। यदि रूढिवश किसी व्यक्ति का जन्म नीचकुल में मान भी लिया जाये, तो इतने मात्र से वह अपवित्र नहीं माना जा सकता। पतित वह है जिसका आचार-विचार निकृष्ट है और जो दिन-रात भोग–वासना में डूबा रहता है। जो कृत्रिम विलासिता के साधनों का उपयोग कर अपने सौन्दर्य की कृत्रिमरूप में वृद्धि करना चाहते हैं उनके जीवन में विलासिता तो बढती ही है, कामविकार भी उद्दीप्त होते है, जिसके फलस्वरूप समाज भीतर ही भीतर खोखला होता जाता हैं।

ब्रह्मचर्य–साधना के दो रूप सम्भव हैं। वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण और वासनाओं का केन्द्रीकरण । समाज के बीच गार्हस्थिक जीवन व्यतीत करते हुए वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण तो सबके लिए सम्भव नहीं पर उनका केन्द्रीकरण सभी सदस्यों के लिए आवश्यक है। केन्द्रीकरण का अर्थ विवाहित जीवन व्यतीत करते हुए समाज की अन्य स्त्रियों को माता, बहिन, और पुत्री के समान समझकर विश्वव्यापी प्रेम का रूप प्रस्तुत करना। यहां यह विशेष रूप से विचारणीय है कि अपनी पत्नी को भी अनियन्त्रित कामाचार का केन्द्र बनाना व्रत से च्युत होना है। एकपत्नीव्रत का आदर्श इसीलिए प्रस्तुत किया गया है कि जो आध्यात्मिक सन्तोष द्वारा अपनी वासना को नहीं जीत सकते वे स्वपत्नी के ही साथ नियन्त्रितरूप से कामरोग को शान्त करें। आध्यात्मिक और शारीरिक स्वास्थ्य की वृद्धि के लिए इच्छाओं पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है। सामाजिक और आत्मिक विकास की दृष्टि से ब्रह्मचर्य शब्द का अर्थ ही आत्मा का आचरण है। अतः केवल जननेन्द्रिय सम्बन्धी विषय विकारों का रोकना पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं है। जो अन्य इन्द्रियों के विषयों के अधीन होकर केवल जननेन्द्रिय सम्बन्धी विषयों को रोकने का प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न वायु की भांति होता है। कान से विकार की बातें सुनना, नेत्रों

से विकार उत्पन्न करने वाली वस्तुयें देखना, जिह्वा से विकारोत्तेजक पदार्थो का आस्वादन करना और घ्राण से विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थो को सूंघना ब्रह्मचर्य के लिए तो बाधक है ही पर समाज हित की दृष्टि से भी हानिकर है। मिथ्या आहार विहार से समाज में विकृति उत्पन्न होती है, जिससे समाज अव्यवस्थित हो जाता है। सामाजिक अशान्ति का एक बहुत बड़ा कारण इन्द्रिय सम्बन्धी अनुचित आवश्यकताओं की वृद्धि है। अभक्ष्य भक्षण भी इन्द्रिय की चपलता के कारण व्यक्ति करता है।

वस्तुतः सामाजिक दृष्टि से ब्रह्मचर्य भावना का रहस्य अधिकार और कर्त्तव्य के प्रति आदर भावना जागृत करना है। नैतिकता और बल प्रयोग ये दोनों विरोधी हैं। ब्रह्मचर्य की भावना स्वनिरीक्षण पर जोर देती है, जिसके द्वारा नैतिक जीवन का आरम्भ होता है। सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन में संगठन शक्ति की जागृति भी इसी के द्वारा होती है। संयम के अभाव में समाज की व्यवस्था सुचारू रूप से नहीं की जा सकती। यतः सामाजिक जीवन का आधार नैतिकता है। प्रायः देखा जाता है कि संसार में छीना झपटी की दो ही वस्तुयें है। 1 कामिनी और 2 कञ्चन। जब तक इन दोनों के प्रति आन्तरिक संयम की भावना उत्पन्न नहीं होगी, तब तक समाज में शान्ति स्थापित नहीं होगी। अभिप्राय यह है कि जीवन निर्वाह शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति के हेतु अपने उचित हिस्से से अधिक ऐन्द्रियक सामग्री का उपयोग न करना सामाजिक ब्रह्मभावना हैं।

महान् दार्शनिक पाइथागोरस ब्रह्मचर्य की महिमा बताते हुए लिखते हैं

"जो व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण नहीं कर सकता वह स्वतंत्र (स्वाधीन) नहीं हो सकता। अपने·आप पर शासन और अनुशासन की शक्ति-सामर्थ्य 'ब्रह्मचर्य' के बिना संभव नहीं है।

रीडर-जैन दर्शन
संस्कृत विद्या एवं धर्मविज्ञान
संकाय काशी हिन्दू विश्वविद्यालय

आचार्य उमास्वामी की दृष्टि में अकालमरण

– डॉ. श्रेयांसकुमार जैन

संसार में जीव का जन्म-मरण शाश्वत सत्य है। जो जन्म लेता हैं उसका मरण होना भी निश्चित है। आचार्य उमास्वामी ने तत्वार्थसूत्र के द्वितीय अध्याप के अन्तिम सूत्र "औपपादिकचरमोत्तम देहाऽसंख्येय वर्षायुषोऽनपवर्त्यायुषः" द्वारा स्पष्ट किया है कि उपपाद जन्मवाले देव और नारकी चरमोत्तम देहधारी और असंख्यात वर्ष की आयुवाले जीव अनपवर्त्य (परिपूर्ण) आयुवाले होते हैं। यह विधिपक्ष है इसका निषेध पक्ष होगा कि इनसे अवशिष्ट जीव अपवर्त्य (अपूर्ण) आयुवाले होते हैं अर्थात् इनसे अवशिष्ट कर्मभूमिया मनुष्य और निर्यञ्च हैं, जिनका अकाल मरण भी होता है। यह पूर्ण सत्य है क्योंकि आचार्य शिवार्य का कहना है–

पढमं असतवयणं सभूदत्थस्स होदि पडिसेहो।
णत्थि णरस्स अकाले मच्चुत्ति जधेव मादीयं॥ म.अ. 830

जो विद्यमान पदार्थ का प्रतिषेध करना सो प्रथम असत्य है। जैसे कर्मभूमि के मनुष्य के अकाल में मृत्यु का निषेध करना प्रथम असत्य है।

इसका तात्पर्य है कि कर्मभूमिया जीवों की अकाल मृत्यु होती है, जिसके अन्य शास्त्रों में भी अनेक प्रमाण मिलते हैं, उसकी प्रस्तुति की जा रही है–

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने अकालमरण के निम्नकारण दर्शाये हैं।

विसवेयणरत्तक्खयभयसत्थग्गह संकिलेसाणं।
आहारुस्सासाणं णिरोहणा खिज्जदे आऊ॥25॥

हिम अणलसलिल गुरूवर पव्वतस्रूहण पडयणमंगेहिं।
रसविज्जोयधराणं अणयपसंयेहिं विविहेहिं ॥26॥ भावपाहुड

अर्थात्- विषभक्षण से, वेदना की पीड़ा के निमित्त से रुधिर के क्षय हो जाने से, भय से शस्त्राघात से, संक्लेश परिणाम से आहार तथा श्वास के निरोध से आयु का क्षय हो जाता है। हिमपात से अग्नि से जलने के कारण, जल में डूबने बड़े पर्वत पर चढ़कर गिरने से शरीर का भंग होने से, पारा आदि रस के संयोग (भक्षण) से आयु का व्युच्छेद हो जाता है।

इन कारणों के होने से ही असमय में जीव की मौत होती है यह सत्य है कि यदि सोपक्रमायुष्क अर्थात् संख्यातवर्षायुष्क मनुष्य व तिर्यञ्च को उपर्युक्त कारणों में से एक या अधिक कारण मिल जायेगे तो अकालमरण होगा और उक्त कारणों में कोई भी कारण नहीं जुड़ता है तो अकालमरण नहीं होता है। कारण का कर्म के साथ अन्वय व्यतिरेक अवश्य पाया जाता है। कारण कार्य सम्बन्ध को बताते हुए आचार्य कहते हैं– यस्मिन् सत्येव भवतिअसति तु न भवति तत्तस्य कारण मिति न्यायात्'' (ध.पु. 12 पृ. 289) जो जिसके होने पर ही होता है और जिसके न होने पर नहीं होता, वह उसका कारण होता है ऐसा न्याय है। आचार्य विद्यानन्दि ने शस्त्र प्रहार आदि बहिरंग कारणों का अपमृत्यु के साथ अन्वय-व्यतिरेक बताया है। इससे सिद्ध है कि खड्ग प्रहार आदि से जो मरण होगा वह अकालमरण होगा और इन शस्त्र आदि के अभाव में कदलीघात मरण नहीं होगा। भास्करनन्दि आचार्य भी अपनी सुखवोधनाम्नी टीका में लिखते हैं– "विषशस्त्रवेदनादि बाह्यविशेषनिमित्तविशेषणावर्त्य ते स्वीक्रियते इत्यपवर्त्यः" अर्थात् विष शस्त्र वेदनादि बाह्य विशेष निमित्तों से आयु का ह्स्व (कम) करना अपवर्त्य है अर्थात् बाह्य निमित्तों से भुज्यमान आयु की स्थिति कम हो जाती है। इसी सन्दर्भ में आचार्य विद्यानन्दि कहते हैं "नह्यप्राप्तकालस्य मरणाभावः खड्गप्रहारादिभिः मरणस्य दर्शनात् " अप्राप्तकाल अर्थात् जिसका मरण काल नहीं आया ऐसे जीव का भी मरण होता है क्योंकि

खड्ग प्रहार आदि से मरण देखा जाता है। श्री श्रुतसागरसूरि ने तत्वार्थवृत्ति में अकालमरण की मान्यता की पुष्टि में कहा है ''अन्यथादयाधर्मोपदेशचिकित्साशास्त्र च व्यर्थं स्यात्'' अकालमरण को न मानने से दयाधर्म का उपदेश और चिकित्सा शास्त्र व्यर्थ हो जांयेगे भट्टाकलंकदेवने कहा है ''बाह्य कारणों के कारण आयु का ह्रास होता है, वह अववर्त है। अववर्त आयु जिनके है, वे अपवर्त आयु वाले हैं और जिनकी आयु का अपवर्त नहीं होता वे अनपवर्त आयु वाले देव नारकी चरम शरीरी और भोग भूमिया जीव हैं, बाह्य कारणों से इनकी आयु का अपवर्त नहीं होता है। शस्त्रादि के बिना संक्लेश परिणामों या परिश्रम आदि के द्वारा भी आयु का ह्रास हो सकता है और वह भी कदलीघात मरण है जैसे किसी की आयु 80 वर्ष है वह 40 वर्ष का हो चुका परिश्रम या संक्लेश के कारण उसकी आयु कर्म के निषेक 75 वर्ष की स्थिति वाले रह गये, वह 75 वर्ष में मरण को प्राप्त होता है। तो वह भी अकालमरण ही कहा जायेगा यदि एक अन्तर्मुहूर्त भी भुज्यमान आयु कम होती है तो वह अकालमरण ही कहलाता हैं। यह निश्चित है कि कोई भी जीव आत्मघात करता है, तो वह भी अकालमरण को प्राप्त होता है किन्तु सभी अपवर्त को प्राप्त होने वाले जान बूझकर अपवर्तन नहीं करते है जैसे आहार निमित्तों से रागादिकरूप स्वयं परिणमन कर जाता है उसी अपवर्तन के सम्बन्ध जानना चाहिए।

आगम में यह भी उल्लेख है कि आगामी भव की आयु का बन्ध हो जाने के बाद अकालमरण नहीं होता है। अगले भव की आयु का बन्ध हो जाने के बाद भुज्यमान आयु जिनती शेष रह गई है, उस आयुस्थिति के पूर्ण हो जाने पर ही जीव का मरण होगा उससे पूर्व नहीं होगा। आचार्य वीरसेन इसी बात को कहते हैं– ''परभविआइए बद्धे पच्छा भुंजमाणऽअस्स कदलीघादो णत्थिजहासरूवेण चेव वेदेदित्ति'' (धवल पृ.10 पृ.237) अर्थात् परभवसंबंधी आयु के बंधने पश्चात् भुज्यमान आयु का कदलीघात नहीं होता किन्तु जीव की जितनी आयु थी उतनी का ही वेदन करता है। यह नियम सभी जीवों के साथ लागू होता है किन्तु शास्त्रों में कदलीघात मरण वाले और कदलीघात मरण

को प्राप्त न होने वाले जीवों के आयु बन्ध के नियम में अन्तर है। जिन जीवों की आयु का कदली घात नहीं होता अर्थात् जो निरुपक्रमायुष्क जीव हैं, वे अपनी भुज्यभान आयु में छह माह शेष रहने पर आयुबन्ध के अन्तिम छहमास के अतिरिक्त शेष भुज्यमान आयु परभविक आयुबन्ध के बिना बीत जाती है[3] एक समय अधिक पूर्वकोटि आदि रूप आगे की सब आयु असंख्यात वर्ष आयु वाले मनुष्य व तिर्यञ्च भोगभूमिया होते हैं। असंख्यात वर्ष की आयुवाले जीवों का कदलीघात मरण नहीं होता क्योकि वे अनपवर्त्य निरुपक्रम आयु वाले होते है।

देव नारकी, चरमशरीरी और अंसख्यातवर्षायुष्क (योग-भूमिया) जीवों की आयु विषशस्त्र आदि विशेष बाह्य कारणों से ह्रास (कम) नहीं होता इसलिए वे अनपवर्त्य हैं। इनका कारण जन्म से ही व्यवस्थित है किन्तु कर्मभूमिया जीवों का मरण व्यवस्थित नहीं है। क्योंकि जिस कर्म भूमिया मनुष्य या तिर्यंच ने अगले भव की आयु का बन्ध नहीं किया है उसकी आयु का क्षय बाह्य निमित्त से हो सकता है। अकाल मरण में भी आयुकर्म के निषेक अपना फल असमय में देकर झड़ते हैं, बिना फल दिए नहीं जाते हैं। आचार्य अकलंक देव तत्वार्थ सूत्र के द्वितीय अध्याय के 53वें सूत्र की व्याख्या करते हुए कहा है– "आयु उदीरणा में भी कर्म अपना फल देकर ही झड़ते हैं, अतः कृतनाश की आशंका उचित नहीं है। जैसे गीला कपड़ा फैला देने पर जल्दी सूख जाता है। और वही यदि इक्ट्ठा रखा रहे तो सूखने में बहुत समय लगाता है, उसी प्रकार बाह्य निमित्तों से समय से पूर्व आयु के निषेक झड़ जाते हैं यही अकाल मृत्यु है।[4]

पण्डित श्री वंशीधर व्याकरणाचार्य इस विषय में कुछ पृथक् कथन करते हैं, उनका कहना है की बध्यमान आयु में उत्कर्षण अपकर्षण होते ही हैं किन्तु भुज्यमान सम्पूर्ण आयुओं में भी उत्कर्षण अपकर्षण करण हो सकते हैं। इसका कारण है कि भुज्यमान तिर्यञ्चायु और मनुष्यायु की उदीरणा सर्वसम्मत है।

भुज्यमान देवायु और नरकायु की उदीरणा भी सिद्धान्त ग्रन्थों में

बतलायी है– "संकमणा करणूणा णवकरणा होंति सव्व आऊणं" (गो. कर्मकाण्ड गा. 441) अर्थात् एक संक्रमण करण को छोड़कर बाकी के बन्ध, उत्कर्षक, अपकर्षण, उदीरणा, सत्व, उदय, उपशान्त निधत्ति और निकाचना ये नव करण सम्पूर्ण आयुओं में होते हैं। किसी भी कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही होती है। कारण उदीरणा का लक्षण "अण्णत्थठियस्सुदये संयुहणमुदीरणा हुँ अत्थि तं" (गो. कर्मका गा न. 439)उदयावलिबाह्यस्थितस्थितिद्रव्यस्यापकर्षणवशादुदयावल्यां निक्षेपण-मुदीरणा खलु। उदयावली के द्रव्य से अधिक स्थिति वाले द्रव्य को अपकर्षण के द्वारा उदयावली में डाल देना उदीरणा है। उदयगतकर्म के वर्तमान समय से लेकर आवली पर्यन्त जितने समय हों उन सबके समूह को उदयावली कहा है। इससे यह निर्णय हुआ कि कर्म की उदीरणा उसके उदयकाल में ही हो सकती है। लब्धिसार में लिखा है। कि "उदयाणमावलिह्मिन च उभयाणं बाहिरम्मि खिवणट्ठं। गा. 68 अर्थात् उदयावली में उदय गत प्रकृतियों का ही क्षेपण होता है। उदयावली के बाहर उदयगत और अनुदयगत दोनों तरह की प्रकृतियों का क्षेपण होता है।

इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिस कर्म का उदय होता हैं उसी का उदयावली बाह्यद्रव्य उदयावली में दिया जा सकता है। इसलिए देवायु और नरकायु की उदीरणा क्रम से देवगति और नरकगति में होगी अन्यत्र नहीं इससे स्पष्ट है कि भुज्यमान देवायु और नरकायु की भी उदीरणा हो सकती है।

ऊपर के निषेकों का द्रव्य उदयावली विषें देना देवायु और नरकायु के सम्बन्ध में उदीरणा है न कि बाह्य निमित्त से मरण का नाम उदीरणा है।

सर्वज्ञ के उपदेश द्वारा अकालमरण सिद्ध हो जाता है–

आयुर्यस्यापि देवज्ञैः परिज्ञाते हितान्तके।
तस्यापि क्षीयते सद्यो निमित्तान्तरयोगतः ॥67॥

– सार समुच्चय

भविष्य के भाग्य-ज्ञाता द्वारा किसी (कर्मभूमिज) की आयु का हितान्त अर्थात्– अमुक समय पर मरण होगा, ऐसा जान भी लिया जावे तो भी विपरीत निमित्तों के मिलने पर उसकी आयु का शीघ्र क्षय हो जाता है।

जैनाचार्यो ने सोपक्रमायुष्क (अपमृत्यु) जीवों का विस्तृत विचार आचार्य श्री उमास्वामी द्वारा लिखित "औपपादिकचरमोत्तम देहाऽसंख्येयवर्ष्यायु षोऽनपवर्त्यायुषः" सूत्र के आधार पर किया है क्योंकि इस सूत्र में अपवर्त्य (निरुपक्रमायुष्क) जीवों का कथन होने से उनसे प्रतिपक्षीय जीवों का प्रतिपादन क्रम प्राप्त है। आचार्य पूज्यपाद ने उक्त सूत्र की व्याख्या में लिखा है की औपपदिक आदि जीवों की आयु बाह्य निमित्त से नहीं घटती यह नियम है तथा इनके अतिरिक्त शेष जीवों का ऐसा कोई नियम नहीं है। यदि कारण मिलेंगे तो आयु घटेगी और कारण न मिलेगे तो आयु नहीं घटेगी।[5] भास्करनन्दि भी इसी बात की पुष्टि करते हैं कि औपपदिक से जो अन्य संसारी जीव है, उनकी अकालमृत्यु भी होती है[6] इसी क्रम भट्टाकलंकदेव, आचार्य विद्यानन्दि, कलिकाल सर्वज्ञ वीरसेन आदि सभी आचार्यो ने उमास्वामी द्वारा प्रति पादित सिद्धान्त का समर्थन किया है।

आचार्य उमास्वामी के परवर्ती आचार्यों को अकालमरण के सन्दर्भ में विशेष दृष्टि मिली। उनसे प्राप्त तद्विषय सम्बन्धी बीज को पाकर विस्तार के साथ स्पष्ट किया। इस विषय में आचार्य उमास्वामी के अवदान को निश्चित रूप से सराहा गया है। तभी तो परवर्ती आचार्यो ने इस विषय को विशेष रूप से प्रतिपादित किया है

जैनागम की स्वतन्त्र देन नय पद्धति के आश्रय से भी उक्त विषय की सिद्धि की गई है[7]। अनेक पौराणिक कथनों पर भी भुज्यमान के अपकर्षण करण का स्पष्टीकरण हो जाता है।

लौकिक उदाहरणों से भी इसे समझा जा सकता है। जैसे किसी व्यक्ति ने एक लालटेन किसी दुकानदार से रातभर जलाने हेतु किराये

पर ली। दुकानकार ने उसमें रात भर जलती रहेगी इतना पर्याप्त तेल भर दिया और ग्राहक को कह दिया की यह लालटेन रात्रि भर जलेगी किन्तु ग्राहक के घर रात्रि 12 बजे बुझ गई, उसका मेंटल नहीं टूटा और नहीं व भभकी किन्तु समय से पूर्व बुझ गई। दुकानदार से ग्राहक शिकायत करता है। दुकानदार परेशान होता है उसे असमय में बुझने का कारण नहीं पता चलता। जब वह सावधानी से देखता तो लालटेन के नीचे छोटा बारीक सुराक पाता है और वह असयम में बुझने के कारण को जान जाता है ऐसा ही आयुकर्म के सम्बन्ध में हैं और कर्मभूमिया मनुष्य तिर्यञ्च अपमृत्यु को प्राप्त हो जाता है।

सभी प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि बध्यमान आयु की स्थिति और अनुभाग में जिस प्रकार अपवर्तन होता है। उसी प्रकार भुज्यमान आयु की स्थिति और अनुभाग में भी अपवर्तन होता है। किन्तु बध्यमान आयु की उदीरणा नहीं होती और भुज्यमान आयु की उदीरणा होती है, जिससे अकालमरण (अपवर्तन) भी होता है। इसमें कोई संशय/सन्देह को अवकाश नहीं है।

वर्तमान में चिन्तनीय है कि शास्त्रों में स्वकालमरण और अकालमरण दोनों व्याख्यान पढने के बाद भी कुछ लोग अकालमरण का निषेध क्यों करते हैं। उनका इसमें क्या उद्देश्य है। मुझे तो सर्वमान्य शास्त्रीय विषय के निषेध में कोई विशेष प्रयोजन प्रतीत होता है। वह यह है कि लोग संसार शरीर भोगों से भयभीत न हों, और संयम व्रत चरित्र से दूर रहें। उन जैसे भोग विलासिता में लिप्त रहते हुए, अपने को धर्मात्मा कहला सकें या मानते रहें। पुरुषार्थ हीन रहते हुए स्वयं भोगी रहें और दूसरों को भी अपने जैसा बनाये रखें जिससे स्वार्थ सिद्धि में बाधा न रहे।

सन्दर्भः

1. बाह्य प्रत्ययवशादायुषो ह्रासोऽपर्वतः। बाह्यस्योपघातनिमित्तस्यविषशस्त्रादेः सति सन्निधाने ह्रसोऽपवर्त इत्युच्यते एते औपपादिकादय उक्ता अनपवर्त्यायुषाः न हि

तेषामायुषो बाह्यनिमित्तवशादपवर्तो ऽस्ति। तत्त्वार्थवार्तिक, भाग-1, पृ. 426

2. अकाल मृत्यु के अभाव में चिकित्सा आदि का प्रयोग किस प्रकार किया जायेगा क्योंकि दुःख के प्रतिकार के समान ही अकाल मृत्यु के प्रतिकार के लिए चिकित्सा आदि का प्रयोग किया जाता है। श्लोकवार्तिक पृ. 343

3. णिरुवक्कमाउआ पुण छम्मासावसेसे आउअबंध पाओग्गा होंती। धवल पु.10 पृ. 234 जो निरुपक्रमायुष्क जीव हैं वे अपनी भुज्यमान आयुछह मास शेष रहने पर आयुबन्ध के योग्य होते हैं।

4. दत्वैव फलं निवर्त्तेः नाकृतस्य कर्मणः फलमुपभुज्यते, न च कृतकर्मफलविनाशः अनिर्मोक्षप्रसंगात् दानादिक्रियारम्भाभावप्रसंगाच्च किन्तु कृतंकर्म कर्ते फलं दत्त्वैव निवर्तते विततार्द्रपटशोषवत् अयथाकाल निर्वृतः पाक इत्ययं विशेषः ॥ तत्वार्थ वार्तिक 2/53 संस्कृत टीका

5. इतरेषामनियमः। सर्वार्थसिद्धि 2/53 की टीका

6. *तेभ्योऽन्ये तु संसारिणः सामर्थ्यादपवर्त्यायुषोऽपि भवन्तिति गम्यते।*

7. कालनयेन निदादिवासनुसारि पच्यमान सहकारफलवत्समया यत्र सिद्धिः अकालनयेन कृत्रिभोष्मपच्यमानसहकारफलवत्समयानायत्र सिद्धि॥ प्र. सार

रीडर-संस्कृत विभाग
दिगम्बर जैन कालेज
बड़ौत (उ.प्र.)

समीक्षा-'निष्कम दीप शिखा'

लेखक- प.श्री पद्मचन्द शास्त्री, एम.ए. जैनदर्शनशास्त्री, वेद-व्याकरण तीर्थ, सम्पादक 'अनेकान्त' वीर सेवा मंदिर, दरियागंज, दिल्ली

सम्पादक- डा. श्री प्रेमचन्द जैन 'आशा-निलय', नजीबाबाद (उ.प्र.)

संस्करण- प्रथम-2006, मूल्य-20/-, पृष्ठ संख्या-396

प्रकाशक- वीर सेवा मंदिर, 21, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, अनुपम श्रुताराधक, जैनगम मर्मज्ञ, प्राकृत-सस्कृत-अपभ्रंश प्राच्य भाषाओ के ज्ञाता, अद्‌भुत मनीषी पुरानी पीढ़ी के प्रकाण्ड पंडित श्री पद्मचन्द जी शास्त्री, दिल्ली, द्वारा जैनागम के आलोक मे लिखित 33 सुलेखों का सुव्यस्थित संकलन इस कृति में है। विविध विषयो पर लिखित में आलेख विभिन्न पत्रो मे पूर्व मे प्रकाशित हुए हैं, जिन्हे सुयोग्य सम्पादक मनीषी विद्वान डॉ. श्री प्रेमचन्द्र जी ने सुव्यवस्थित रीति एवं क्रम से नियोजित कर इस कृति को आकार दिया है। पंडित जी द्वारा लिखित प्रस्तुत आगम सम्मत विविध विषय जिज्ञासु प्रबुद्ध पाठको के लिए एकत्र सुलभ हो गये है। यह पुस्तकाकार रूप सकलन डॉ. श्री प्रेमचन्द जी के अथक प्रयास का ही सुफल है।

ये आलेख गवेषणात्मक व ज्ञानवर्द्धक है, तथा प्रामाणिक उद्धरणों के साथ परिश्रमपूर्वक लिखे गये है। प्राय. सभी आलेख अपने आप में पूर्ण हैं। किसी एक विषय को पूर्णत· स्पष्ट विश्लेषित/प्रकाशित करते है। आगमानुकूल है, दिशाबोधक और प्रेरक हैं। जैन जैनेतर सभी वर्गो के जिज्ञासुओ को जैन एवं जैनत्व के भिन्न-भिन्न सत्य तथ्यों की प्रामाणिक जानकारी देते है। ये जिज्ञासुओं की जिज्ञासाओं का शमन करने में सक्षम, सभी के द्वारा पठनीय, प्रबुद्ध वर्ग द्वारा समादरणीय जीवन्त ऐतिहासिक दस्तावेज हैं। देश-विदेश के प्रत्येक पुस्तकालय, वाचनालय, शास्त्र-भंडार और जिनालयो मे आगामी पीढ़ी को मार्गदर्शन एव ज्ञानवर्धन हेतु सरक्षणीय है।

कार्ययोजक श्री रूपचन्द जी कटारिया, प्रकाशक - वीर सेवा मन्दिर दिल्ली, के महासचिव श्री सुभाषचन्द जी, सम्पादक डॉ. श्री प्रेमचन्द जी एवं अन्य सभी सहयोगी जन इस पुस्तकाकार कृति के प्रकाशन हेतु धन्यवादार्ह है। आदरणीय पंडित जी सा. तो अद्‌भुत पांडित्य के धनी हैं ही। उनके प्रति हम श्रद्धावनत हैं।

– अभय कुमार जैन (पूर्व प्राचार्य)
कानूनगो वार्ड, बीना 470113 म. प्र..